

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178204

UNIVERSAL
LIBRARY

मुस्लिम देश भक्त

लेखक
रतनलाल बंसल फ़ीरोज़ाबादी

सेक्रेट्री, हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी,
४८, बाई का बाग़ इलाहाबाद

पहली बार १९४९
क्रीमत्त एक रुपया बारह आने

छापने वाला—
देश सेवा प्रेस, इलाहाबाद

कहाँ क्या ?

१—देखिये	...	...		
२—शाह वलीउल्लाह	...	...	...	१
३—शाह अब्दुल अजीज	...	...	...	१२
४—शाह मुहम्मद इसहाक	...	...	...	१९
५—हाजी इमदादुल्लाह	...	...	...	२६
६—मौलाना मुहम्मद कासिम	...	...		३६
७—हाजी रशीद अहमद गंगोही	...	...	...	४५
८—मौलाना महमूदुल हसन	...	...	...	५५
९—मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी	...	...	...	७०
१०—हाजी फ़जलवाहिद	...	...	...	८१
११—मौलाना फ़जलेहक खैराबादी	...	...	...	९०
१२—मालवी अहमद शाह	...		...	९९
१३—मौलाना चरकतुल्ला भूपाली		...	...	१०७
१४—मौलाना मजहरुलहक	...	...	...	११८
१५—मौलाना मुहम्मद मियाँ मन्सूर अन्सारी	..	.	...	१२८
१६—ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान				१३९

देखिए

किताब का नाम देख कर जब मैं अटक तो हो सकता है, मेरी तरह और भी अटकें। देश भगत के पीछे हिन्दू मुस्लिम का पुछुल्ला क्यों। देश भगत तो सचमुच हिन्दू मुस्लिमपने से बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। देश भगत होने के लिए ईश्वर भगत होना जरूरी है और ईश्वर भगत हिन्दू मुसलमान में भेद क्यों करेगा और वह खुद इस भेद की कीचड़ में क्यों फँसेगा। नास्तिक या मुनकिर समझे जानेवाले आदमी भी सच्चे देश भगत हो सकते हैं। पर ऐसे आदमी तो ईश्वर भगत से एक हाथ बढ़ कर ईमानदार होते हैं। हम नास्तिक दो तरह के मानते हैं। एक का हम नास्तिक-नास्तिक और दूसरे को नास्तिक कहते हैं। नास्तिक-नास्तिक तो हम उसे मानते हैं जो सचमुच न ईश्वर को मानता है, न खुदा का कायल है, न परलोक में विश्वास रखता है और न इनसानियत का ही पुजारी होता है। वह तो देश भगत हो ही नहीं सकता। हाँ किसी मतलब के लिए देश भक्ती का नाटक खेल सकता है। नास्तिक हम उसे कहते हैं जो दिखाने के लिए न मस्जिद से गरज रखता है न मन्दिर से मतलब। उसे न नमाज से कुछ लेना न पूजा को कुछ देना। न कुरान की तिलावत न वेद का पाठ। वह तो सिर से पाँव तक इनसानियत में डूबा हुआ होता है या यूँ समझिये कि उसके अंदर का खुदा उसमें जाग गया होता है। दो शब्दों में भीतर भीतर जिसके राम वह है नास्तिक और जिसके बाहर राम वह लोगों की नजरों में आस्तिक। पर जिसके भीतर भी राम और बाहर भी राम उसे हम कहते हैं आस्तिक-आस्तिक। जिन देश भगतों की ज़िन्दगी आपको इस किताब में मिलेगी, वह भीतर भी खुदा परस्त थे और बाहर भी यानी आस्तिक-

(अ)

आस्तिक थे। उन्हें गुलामी बरदाश्त न थी। वह खूब समझते थे कि हिन्दुस्तान के अकेले मुसलमान की आजादी इतनी ही बेमानी बात है जैसे किसी आदमी के आधे हिस्से की आजादी। इसलिए उनकी कोशिशें किसी एक फ़िरके के लिए न थीं और न हो सकती थीं। यह हो सकता है कि उन्होंने अपनी आसानी के ख़ियाल से हिन्दुस्तान की आजादी के लिए किसी एक फ़िरके को ही औज़ार या हथियार बनाया हो। हाँ तो फिर ऐसे देश भगतों के लिए मुस्लिम या हिन्दू नाम से पुकारना कानों को अच्छा नहीं लगता। पर हिन्दुस्तान की अबतक की हवा और आज तक की हवा, मजबूर करती है कि किताब का नाम मुस्लिम देश भगत ही रहे। न सिर्फ़ इस वजह से कि इस में उन देश भगतों का हाल है, जिन्होंने मुसलमान घराने में जनम लिया था, न इस वजह से कि वह दीन इस्लाम के कायल थे, बल्कि इस वजह से कि मुसलमानों की बहुत बड़ी तादाद यह जानती ही नहीं कि वह अपने में से कितनों को देश भक्ती की वेदी पर क़ुरबान कर चुकी है। और न हिन्दूओं को ही यह पता है कि मुसलमानों में कैसे कैसे होनहार, जवान और कैसे कैसे काबिल वजूद देश भक्ती की बलि वेदी पर निछावर हो चुके हैं।

इस किताब को पढ़ कर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ऐसा महसूस करेंगे मानो वह हिन्दुस्तान की तारीख़ को एक नए और अनोखे रूप में पढ़ रहे हैं। हो सकता है इस किताब को पढ़ते पढ़ते मुसलमानों की छातियां फूल उठें और हिन्दूओं के दिल से मुसलमानों के लिए ओछेपन का भरा हुआ गुबार आंखों की राह पानी बन कर निकल जाए।

हमारा दिल तो यही कहता है कि यह किताब हिन्दू मुसलमानों को पास लाने में बड़ी मदद करेगी और दोनों के दिल धो कर एक दूसरे पर भरोसा पैदा करने में बड़ी मदद साबित होगी। यह किताब समय के लिए

तो जरूरी है ही पर हमेशा भी जरूरी बने रहने की क़ाबलियत रखती है । देश भक्तों की जिंदगियाँ अमर हुआ करती हैं ।

पढ़िये और फिर पढ़िये, और समझ लीजिए कि बात वैसी नहीं थी जैसी आप अब तक समझे हुए थे । गुलामी के कांटे की हर दिल में एक सी चुभन होती है । उस चुभन को दूर करने की एक सी कोशिश होती है और आज़ादी के अमृत की मिठास हर गले को एक सी ही लगा करती है ।

अब आप आज़ादी के छप्पर तले हैं । इस जानकारी में आपको मुक्त ही आयागा कि इस छप्पर के ऊपर तक पहुँचने में किन किन के हाथ लगे थे ।

नई दिल्ली

भगवान दीन

५-१-४६

हज़रत शाह वलीउल्लाह

हमारे मुल्क में हिन्दू और मुसलमानों के आपसी मनमुटाव से मुल्क के जहाँ और बहुत से नुक़सान हुए वहाँ एक यह भी हुआ कि बहुत से ऐसे सन्त महात्मा और वलीअल्लाह जिन्होंने बिना किसी भेदभाव के पूरे हिन्दुस्तान को ऊँचा उठाया और उसे तरफ़ी देने की कोशिश की, सिर्फ़ इस लिये भुला दिये गए कि वह इस या उस मज़हब के थे। बहुत से ऐसे लोग, जिनकी बताई हुई राह पर चलकर सारा देश आगे बढ़ सकता था, बहुत से बहुत एक मज़हबी लीडर बन कर रह गए।

अठारवीं सदी के मुसलमान दरवेश शाह वलीउल्लाह भी हमारे मुल्क की एक ऐसी ही ज़बरदस्त हस्ती थे। उन्होंने न सिर्फ़ अपने ज़माने के गिरते हुए इस्लाम और बिगड़ते हुए चाल चलन को ही ऊँचा उठाने की कोशिश की, बल्कि उस ज़माने की राजनीति में भी बहुत बड़ा हिस्सा लिया। विदेशी क़ौमों के बढ़ते हुए ख़ौफ़नाक पंजों से हिन्दुस्तान को बचाने के लिये वह ज़िन्दगी भर लड़ते रहे और अपने वारिसों, बेटों, नातियों और हज़ारों शार्गिदों के दिल में ऐसी आग छोड़ गए कि उन्होंने मर जाना पसन्द किया, पर हिन्दुस्तान की गुलामी को चुपचाप बर्दाश्त नहीं किया। आइये, आज जब कि हमारे मुल्क की सदियों से सोई हुई किस्मत कुछ करवटें होने लगी है और आसमान

पर उमीदों के सितारों की चमक कुछकुछ नज़र आने लगी है, हम अपने इस बुजुर्ग की पाक ज़िन्दगी पर एक सरसरी निगाह डालें।

शाह साहब की पैदायश

सत्रहवीं मदी के आखिर के उस इन्कलाबी दौर में, जब कि औरंगज़ेब की हुकूमत के खिलाफ़ जगह-जगह बगावतें हो रही थीं, देहली के एक मशहूर दरवेश घराने में चार शवाँल सन् ग्यारह सौ चौदह हिजरी यानी सन् १७०२ ई० के करीब बुध के दिन शाह बलीउल्लाह का जन्म हुआ। आपके पिता का नाम शाह अब्दुलरहीम था। शाह अब्दुलरहीम बहुत बड़े आलिम सूफ़ी थे। यह वह ज़माना था जब शाही दरबार में मौलवियों का बोलबाला था। शाह अब्दुलरहीम अगर चाहते तो शाही दरबार में उँचा रुतबा हासिल कर सकते थे, पर उन्होंने इसे अपनी फ़कीरी शान के खिलाफ़ समझा और हमेशा शाही मदद के साथे से भी बचते रहे। यही वजह थी कि उन्होंने जब भी ज़रूरत समझी निडर होकर बादशाह के बुरे कामों को बुरा कहा और हुकूमत की भूलों को साफ़-साफ़ दिखाया।

शाह अब्दुलरहीम औरंगज़ेब की निजी नेकचलनी, परहेजगारी और सादा ज़िन्दगी के कायल थे, पर इस बात से उन्हें बड़ी तकलीफ़ होती थी कि कुछ कट्टर मौलवियों के कहने पर हुकूमत की तरफ़ से हिन्दुओं और शियों को सिर्फ़ इसलिये सताया जाता था कि वह हिन्दू या शिया हैं। उनके ख़याल से यह बात इसलाम की नसीहतों और इसलामी क़ानून के खिलाफ़ थी। साथ ही उन्हें डर था कि इस तरह हुकूमत के पाये कमज़ोर पड़ जावेंगे, मुल्क में भगड़े खड़े हो जावेंगे और हिन्दुस्तान की तरफ़की बक जायगी। औरंगज़ेब की हुकूमत के उस दौर में जब कि मुग़ल सल्तनत का ख़रब बुरे चढ़ाव पर था, शाह

अब्दुलरहीम साहब ने आने वाले स्वतंत्रों को सही सही पन्चान लिया था ।

शाह वलीउल्लाह को मजहबी तअस्सुब से ऊपर उठ कर सोचने और समझने की आदत अपने पिता से मिली । पांच साल की उम्र में वह अपने पिता के मकतब में बैठे । सात साल की उम्र तक कुरान शरीफ पूरा किया । इसके बाद तीन साल तक वह अरबी की मशहूर किताब “शरह मुल्ला जामी” पढ़ते रहे और फिर चौदह साल की उम्र तक इसलामी फलसफे की और किताबों को गहराई से पढ़ा । चौदह साल की उम्र में शाह वलीउल्लाह की शादी हो गई । एक साल बाद अपने पिता की शागिर्दी में वह सलूक यानी योग अभ्यास और दिल की सफाई की कोशिशों में लग गए । अभी दो साल ही बीते थे कि शाह अब्दुलरहीम चल बसे । उस छोटी सी उम्र में ही अपने पिता की गद्दी संभाल कर शाह वलीउल्लाह ने अपने मदर्स में पढ़ाना शुरू कर दिया ।

इसके बाद शाह वलीउल्लाह ने अपने मुल्क की हालत पर नजर डाली । उन्होंने देखा कि कुछ साल पहले उनके पिता ने हुक्मत के रंग ढंग को देख कर जो हेनहार बताई थी वह सच साबित हो रही थी । मुल्क में जगह-जगह बलवे खड़े हो गए थे । हिन्दुस्तान की वह हकता जिसे अकबर बड़ी कोशिशों से बना पाया था स्वतंत्रों में थी । औरंगजेब दुनिया से सिधार चुका था । उसके उठते ही बहुत सी आज्ञा हुक्मर्त सूबे सूबे में बन गई थीं । शाह वलीउल्लाह ने यह भी देखा कि मुल्क के इन आपसी झगड़ों से अंगरेज और फ्रांसीसी अपना मतलब साधने की कोशिशें कर रहे थे और खुले आम इस मुल्क की हुक्मत में हिस्सा लेने लगे थे ।

हालत बहुत नाजुक थी । मुल्क का हर भारदार राजा या नवान अपनी ही बढ़ौती की किश में था । मुल्क की किसी को भी फर्याद नहीं

थी। अपने थोड़े से फ़ायदे के लिये इनमें से हरेक कोई भी काम करने के लिये तैयार था। राजधानी देहली में दिन रात साजिशें चलती रहती थीं और क़त्ल, फ़ाँसियों और लम्बी सज़ाओं का सिलसिला जारी हो गया था।

शाह वलीउल्लाह कुछ दिनों इस हालत पर विचार करते रहे। इसके बाद दूसरे मल्लों का हाल जानने के लिये वह हज के वास्ते मका गए। वहाँ दो साल रहे। ज़माने की हालत पर बड़े बड़े आलिमों से बहस की। उस ज़माने का मशहूर आलिम शेख़ अबूताहिर से एक असें तक तालीम हासिल की। बाद को हिन्दुस्तान वापस आ गए।

यहाँ आकर उन्होंने अपने सवाल फैलाने शुरू किए। उनकी राय में उस ज़माने की इन तमाम बुग़ाइयों की जड़ में दो ख़ास बातें थीं—

(१) यह कि हिन्दू या मुसलमान दोनों मजहब के लोगों में वह सच्चा मजहबी जज़्बा न रह गया था जो इनसान को इनसान बनाए रखता है। उल्टे उनमें एक तरह की लामजहबी या नास्तिकता पैदा हो गई थी जिससे वह अपने या अपने घराने के निजी फ़ायदे नुक़सान को ही देख सकते थे और समाज या मुल्क का बड़ा से बड़ा फ़ायदा अपने निजी फ़ायदे के ऊपर कुर्बान कर सकते थे।

(२) यह कि ऊपर के अमीर उमरा रईसों और सरदारों ने नीचे के लोगों पर अपनी ऐश आगम की ज़िन्दगी का इतना बड़ा बोझ लाद दिया था कि वह यानी देस के आम लोग हैवानों की सी ज़िन्दगी बिताने पर मजबूर हो गए थे। शाह साहब अपनी एक किताब “हुज्जतुल्लाहिल बालिगा” में लिखते हैं—

“अगर किसी क़ौम में धन दौलत की लगातार तरक्की जारी रहे, तो उसकी सनअतो हिरफ़त (कला कौशल) आला कमाल पर पहुँच जाती है। उसके बाद अगर इक़मत करने वाली जमात आगम और आसाइश और जीनतो तफ़ाख़र (सज धज और घमंड) की ज़िन्दगी

को अपना मामूल बना ले तो उसका बोझ कौम के कारीगर तबक़ात (श्रेणियों) पर इतना बढ जावेगा कि सोसाइटी का बड़ा हिस्सा 'हवानों जैसी जिन्दगी बसर करने पर मजबूर हो जावेगा। इन्सानियत के इज्जतमाई इश्वलाक़ (सामूहिक सदाचार) उस दङ्ग बरबाद हो जाते हैं जब किसी ज़रूरत से उनको इत्क़मादी (माली) तंगी पर मजबूर कर दिया जाय। उस वक्त लोग गधों और बैलों की तरह फिर रोटी कमाने के लिये काम करेंगे और जब इन्सानियत पर ऐसी मुसीबत आती है तो खुदा इन्सानियत को इस मुसीबत से निजात (छुटकारा) दिलाने के लिये कोई रास्ता जरूर इलाजाम करता (मुक़ाता) है, यानी जरूरी है कि कुदरत इलाहिया (ईश्वरी शक्ति) इत्क़मात के सामान पैदा करके कौम के मध्य से उस बेजा हुक्मत का बोझ उतार दे।”

इन जुमनों को पढते वक़्त यह याद रखना चाहिये कि तब तक यूरोप में न कार्लमार्क्स पैदा हुआ था और न सोशलिज़्म (समाजवाद) की कोई तहरीक चली थी।

शाह वलीउल्लाह चाहते थे कि आम लोग आगे बढ़ें और हिन्दुस्तान में एक जमहूरी (जनता की) हुक्मत कायम की जाय। एक जगह उन्होंने लिखा है कि—“सलतनत का शीराजा बिखर चुका है (जोड़ दीने हो चुके हैं) और मुग़लिया सलतनत में कैसेगे कमरा (ईरान और रोम के सम्राटों) की सा ख़ग़बिर्षा पैदा हो गई हैं। इस लिये मस्लेहत खुदावन्दी (ईश्वर की इच्छा) यही है कि इस निजाम को सिरे से तोड़ दिया जाय।”

कुरान शरीफ का तरजुमा

आम लोगों में सच्ची मज़हबी जिन्दगी लाने के लिये शाह साहब ने कुरान शरीफ का तरजुमा करना शुरू किया। उस ज़माने में पढ़े लिखे मुसलमान अरबी की निश्चित फ़ारसी बहुत ज़्यादा जानते थे।

दूसरे मजहबों के लोग भी फ़ारसी बहुत पढ़ते थे। शाह साहब चाहते थे कि फ़ारसी तरजुमे के जरिये कुरान का असली सन्देश आम लोगों तक पहुँचा दें।

जब से कुरान शरीफ़ इस दुनिया को मिला, तब से यह पहला मौका था कि उसका तरजुमा एक दूसरी ज़बान में किया जा रहा था। यह काम एक ऐसा इनक़लाबी काम था, जिसने मुसलमानों में एक हलचल पैदा कर दी। बहुत से मुल्लाओं ने इसी मुख़ालफ़त की। लेकिन शाह साहब ने कोई परवाह नहीं की और अपने मदरसे में बराबर अपने इसी तरजुमे को पढ़ाते रहे। अपने तरजुमे में उन्होंने कुरान की आयतों की तशरीह (व्याख्या) करते हुए भी पुराने मुल्लाओं की राय के ख़िलाफ़ बड़े-बड़े इनक़लाबी और नये माइने किये।

क़त्ल की साज़िश

हुकूमत को यह बात मालूम हो चुकी थी कि शाह वलीउल्लाह ख़ल्क में एक नियासी इनक़लाब कराना चाहते हैं। एक दिन शाम को जब शाह साहब अपने थोड़े से शागिदों के साथ दिल्ली की मसजिद फ़तहपुरी में नमाज़ पढ़ रहे थे, कुछ लोगों ने आकर उन्हें घेर लिया। शाह साहब ने दूसरे दरवाज़े से निकल जाना चाहा। जब उस दरवाज़े को भी घिरा हुआ पाया, तो उन्होंने पूछा कि आख़िर आप लोग क्यों मेरे खून के प्यासे हैं? जवाब मिला कि हम मौलवी हैं, तुमने यह तरजुमा लिख कर हमारी रोटी और इज्जत दोनों पर और ख़ुद कुरान पर हमला किया है। शाह साहब ने उन्हें समझाने की कोशिश की। जब वह न माने तो उनके शागिदों ने भी तलवारें खींच लीं और किसी तरह शाह साहब की जान बच गई।

बाद में मालूम हुआ कि यह हमला हुकूमत की साज़िश से हुआ था, क्योंकि शाह साहब की नसीहतों और उपदेशों में हुकूमत को अपनी मौत नज़र आने लगी थी।

शाह साहब की और किताबें

इस तरजुमे के बाद शाह वलीउल्लाह ने करीब तीस किताबें और लिखीं, जिनमें उन्होंने अपने इनक़लाबी प्रोग्राम को बयान किया है। इन किताबों से शाह साहब के सियामी खयालों पर अच्छी रोशनी पड़ती है। बहुत बार तो यह देख कर दंग रह जाना पड़ता है कि आज जिन उलझनों में हमारा मुल्क फँसा हुआ है उन पर हमारे इस दूर तक देखने वाले दरवेश ने कितनी काबलियत के साथ रोशनी डाली है।

शाह साहब के तीन खास अस्सूल

शाह साहब की किताबों से उनके तीन खास अस्सूलों का पता चलता है।

पहला यह कि वह हिन्दुस्तान को एशिया का एक ताक़तवर मुल्क देखना चाहते थे। उनकी राय में यह तभी हो सकता था जब यह पूरा मुल्क किसी एक हकूमत के आधीन हो। उन्होंने अपनी किताब “बुदूरे-बाज़ग़द” में लिखा है कि मुल्क में छोटे छोटे खुद-मुस्तार राज भले ही हों, लेकिन उनका एक फ़ैडरेशन होना चाहिए, जिससे किसी भी मामले पर पूरे हिन्दुस्तान का फ़ायदा नुक़सान निगाह में रख कर ग़ौर किया जा सके। ‘फ़ैडरेशन’ के लिए उन्होंने “इर्तिफ़ाक़” लफ़्ज़ इस्तेमाल किया है। उन्हें अक़बर के ज़माने का हिन्दुस्तान अच्छा लगता था, लेकिन उनका मंशा अक़बरी साम्राज्य को फिर से ज़िन्दा करना नहीं था। वह सारे मुल्क में एक ऐसी ज़महूरी यानी ज़नता की हकूमत चाहते थे, जिसमें छोटे बड़े, ग़रीब अमीर सब बराबर का हिस्सा ले सकें।

दूसरे वह हिन्दुस्तान भर में हिन्दू मुसलमान और सब के लिए एक ही किस्म का क़ानून चाहते थे, जिसकी पाबन्दी हर मज़हब के

लोग कर सकें। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—“कि इसको निकाह की मिसाल से समझना आसान होगा, ‘निकाह’ की रस्म का मतलब सिर्फ यह है कि समाज को एक औरत और एक मर्द के बीच शौहर और बीवी के सम्बन्ध पैदा हो जाने का पता चल जाय, फिर चाहे यह काम बाजे बजा कर, गीत गाकर आग के सामने किया जाय या किसी काजी के सामने रस्म पूरी की जाय, निकाह वा मकसद दोनों ही तरह से पूरा हो जाता है। राज को सिर्फ उसकी पाबन्दी से मतलब है, रस्मों से कोई वास्ता नहीं है।”

तीसरी बात जिस पर उन्होंने सबसे ज्यादा जोर दिया यह थी कि सब तरह के मजदूर पेशा और कारीगर लोगों को उनके सही हक दिलाए जायें और उन पर कम से कम बोझ रखा जाए। इसी मसले पर उन्होंने सबसे ज्यादा लिखा है और मुगल सल्तनत के गिरने की खास वजह यही बताई है। वह एक ऐसी हुकूमत चाहते थे जिसमें किसी भी आदमी को अपनी जिन्दगी की जरूरतों के लिये तरसना न पड़े। उन्होंने अपनी एक किताब में लिखा है—“अलगगज इन्सानों की इज्जतमाई (मिली हुई) जिन्दगी के लिये इत्तमादी तवाजुन (आर्थिक यानी माली बराबरी) एक ज़रूरी बात है। हर इन्सानी जमात को एक ऐसे इत्तमादी निज़ाम (आर्थिक प्रबन्ध) की ज़रूरत होती है जो लोगों की जिन्दगी की सब ज़रूरतों का कफ़ील (पूरा करने वाला) हो। जब लोगों को अपनी इत्तमादी (माली) ज़रूरतों से इत्मीनान नमीव होता है, तो फिर कहीं वह अपने खाली वक़्त में, जो उनके पास कसबे-मआश (रोज़ी कमाने) के बाद बच रहता है, जिन्दगी के उन शोबों (कामों) की तरक्की और तहजीब की तरफ़ मुतवज्जह होते हैं (ध्यान देते हैं), जो इन्सानियत के असल चौहर हैं।”

शाह साहब इन भागलों में पक्के सोशलिस्ट यानी साम्यवादी थे, “कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो” निकलने से यह क़रीब सौ बरस पहले की बात है ।

अमल के मैदान में

अपनी किताबों और तकरीरों से प्रचार करने के बाद अपने इन खयालों को अमली जामा पहनाने के लिये ५ मई सन् १७३१ को उन्होंने बाकायदा एक जमात बनाई, जिसका मक़्मद हिन्दुस्तान में एक सियासी इनक़लाब करना था । इस जमात के चार असून थे— (१) खुदा परस्ती यानी ईश्वर की पूजा (२) इन्साफ़ (३) तर्धियते नफ़स यानी अपने चरित्र को ठीक करना, और (४) जव्त नफ़स यानी संयम ।

इस जमात का नाम “जम्मीयते मक़्जिया” यानी “सैन्ट्रल कमेटी” रक्खा गया और मुल्क के सब डिस्टों में इसकी बहुत सी शाखें कायम की गईं । इन शाखों में नजीबाबाद का मदरसा बरेला में शाह इलमल्लाह का तक्रिया और सिन्ध के शहर टठ में मुल्ला मुहम्मद मुईन का मदरसा खास थे ।

इन शाखों के जरिये सारे मुल्क में शाह वलीउल्लाह के खयालों का प्रचार किया गया । शाह साहब के ख़ाम शागिदों में मौलाना मुहम्मद हुसैन फ़ुलती, मोलवी नूरुल्ला बुरहानवी और मौलाना मुहम्मद अमीन कशमीरी ने प्रचार का काम अपने ऊपर लिया, और अभीरों ग़रीबों मुल्ला मौलवियों और आम लोगों सब में एक बेदारी पैदा कर दी । कुछ मुसलमानों ने यह एतराज़ उठाया कि जब मिक़ल और मराठे मुसलमानी हुकूमत पर हमला कर रहे हैं, और उन्होंने एक मजहबी ज़ुंम छेड़ रखी है, तब ऐसी हालत में इन खयालों का प्रचार करना एक मुसलमान के लिये कहाँ तक जायज़ है ? इस एतराज़ के जवाब में शाह साहब ने कहा कि—“कोई भी हुकूमत सिर्फ़ इसलिये इसलामी हुकूमत

नहीं हो जाती कि उसका बादशाह मुसलमान है। इसके खिलाफ़ इन्साफ़ के सहारे चलने वाली कोई ऐसी हुकूमत भी मुसलमानी हुकूमत हो सकती है, जिसका बादशाह मुसलमान न हो।”

धीरे-धीरे यह संगठन इतना मजबूत होता गया कि मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी के लफ्ज़ों में—“शाह साहब की इस जमात ने बाकायदा एक आरज़ी हुकूमत (काम चलाऊ सरकार) कायम कर ली।” उस वक्त शाह साहब के कुछ शागिर्दों ने हुकूमत के खिलाफ़ तलवार उठाने पर जोर दिया शाह साहब ने उन्हें मना कर दिया और समझाया कि जिस तरह हज़रत मुहम्मद ने तेरह साल तक अदम तशद्दुद यानी अहिंसा के सहारे अपना प्रचार किया यहाँ तक कि खुद इज्जत कर गये लेकिन तलवार हाथ में नहीं, उसी तरह हमें भी चुनचाप अपने विचारों को फैलाने का काम करते रहना चाहिये जब तक कि इस इनक़लाब की हम पूरी तय्यारी न कर लें। कुछ दिन बाद देहली के एक हाकिम नज़फ़ अली ख़ाँ ने शाह साहब के हाथों के पंजे उतरवा दिये, ताकि वह लिख कर अपना प्रचार न कर सकें और उनके दोनों बेटों शाह अब्दुल अजीज़ और शहरज़ादीन को सलतनत से बाहर निकलवा दिया। शाह साहब इस जुल्म को हँसते हँसते सह गये और उन्होंने इसके खिलाफ़ उफ़ तक न की।

आखिर सन् १७६२ में अपनी जमात का तमाम बोझ अपने बेटे शाह अब्दुल अजीज़ पर रखकर वह हम दुनिया से बिदा हो गये। जिस हिन्दुस्तान की उन्होंने कल्पना की थी, उसे वह अपनी आँखों न देख सके और जिस इनक़लाब की उन्होंने नींव डाली थी, उसे भी देखना उन्हें नसीब न हुआ, फिर भी हिन्दुस्तान में वह एक ऐसी जमात कायम कर गए, जिसने ज़माने की ज़रूरतों के मुताबिक़ अपने को बदल कर हिन्दुस्तान का एक हरा भरा मुल्क बनाने की कोशिशों में पूरा हिस्सा लिया और आज करीब दो सौ साल बाद भी जो न सिर्फ़ ज़िन्दा है

बल्कि हमारे मुल्क की जंगे आज़ादी में “जमीयत-उल उलमाए हिन्द” की शकल में एक खास जगह रखती है। शाह वलीउल्लाह से लेकर मौलाना हुसैन अहमद मदनी तक का यह सिलसिला एक ऐसी तारीख है, जिसका हर पन्ना शहीदों के खून से लाल है और जिस पर हमारा मुल्क जितना भी घमंड करे थोड़ा है।

शाह वली उल्लाह ने कुल साठ बरस की उम्र पाई। उनके साथ न किसी राजा या नवाब की ताक़त थी और न वह खुद घर के कुछ ज्यादा आसुदा थे। वह एक सीधे-सादे दरवेश थे, जिसकी दौलत उसके दिल की सच्चाई और फ़क़री होती है। उन दिनों दिल्ली की हर सुबह एक नये इन्क़लाब का पैग़ाम लेकर आती थी। अपने इस छोटे से ज़माने में उन्होंने देहली के तख़्त पर दस बादशाहों को बैठते गिरते देखा। सादात बारा का तसल्लुत, प्ररुख़सियर का उनके हाथों कैद में मरना, दूरानी उमराओं के हाथों सादातबारा का ज़वाल, मरहटों की बगावत और उरुज, सिखों की बगावत, नादिरशाह का हमला, देहली का क़त्लेआम, मुहम्मदशाह अब्दाली और पानीपत की जंग, सियासते हिन्द में रुहेलों की शिकत, हिन्दुस्तान में यूरोपियनों का ज़ालच, फिर बंगाल और बिहार में अंगरेजों का अमल दख़ल, यह तमाम बातें शाह साहब की आँखों के आगे से गुज़री थीं, फिर भी इस बात पर अचरब होता है कि मुल्क की बदकिस्मती की उन काली घड़ियों में, जब विदेशियों की गुलामी की ज़ंजीरों दिनों दिन कड़ी होती जा रही थीं, कैसे उनकी उम्मीदों का चिगाग़ आख़ीर तक इस शान से जलता रहा।

शाह साहब को इस दुनिया से गये करीब पौने दो सौ बरस हो गये। जिस तहरीक की वह नांव डाल गये थे, वह आज भी ज़्यों की त्यों कायम है, उनके पीछे आने वालों ने उस पर कुछ न कुछ मंज़िलें खड़ी की हैं। काश ! हम सब अपनी फ़िरक़वाराना तंगनज़री से ऊपर उठकर अपनी इस अज़ीमुशान बुजुर्ग हस्ती को पहिचान पाते ?

शाह अब्दुल अजीज

सन् १७६२ में, जब शाह वलीउल्लाह साहब की इनकलाबी तहरीक, जो आम लोगों का राज या आजकल की ज़बान में, संश-लिस्ट डेमोक्रेटिक हुकूमत कायम करने की तहरीक कही जा सकती थी, अपना बचपन पार करके ज़बानी में क़दम रखती जा रही थी, शाह साहब दुनिया से चल बसे। उनके बाद शाह साहब के बेटे शाह अब्दुल अजीज अपने बाप की जगह इस तहरीक के दूसरे इमाम यानी नेता चुने गये।

शाह अब्दुल अजीज उस वक़्त सत्रह साल के थे। वह सिर्फ़ इसी-लिये इमाम नहीं चुने गये कि वह शाह वलीउल्लाह के बेटे थे, बल्कि इसलिये कि पिल्ले दो साल से वह बड़ी जिम्मेदारी के साथ इस तहरीक के काम में अपने बाप का हाथ बटा रहे थे और बड़ी क़ाबलियत से अपने मदरसे में तालीम दे रहे थे। मौलाना मुहम्मद आशिक फ़ुलती, मौलाना मुहम्मद अमीन काशमीरी और मौलवी नूरुल्लाह बुरहानवी जैसे वलीउल्लाह साहब के साथियों तक ने इसी बात पर ज़ोर दिया कि शाह अब्दुल अजीज ही इमामत के इस क़ाँटों भरे ताज को संभाल सकते हैं।

शाह अब्दुल अजीज की क़ाबलियत के बारे में मशहूर है कि फ़ारसी और अरबी की बहुत सी किताबें उनकी ज़बान पर थीं और ज़रूरत पड़ने पर उनमें से काम की बातें और लम्बी-लम्बी इबारतें वह ज़बानी बोलकर लिखवा दिया करते। तालिबइल्मों के साथ उनका बरताव इतना अच्छा था कि जो एक बार उनके पास आ गया, उसका

मदरसा छोड़कर जाने को जी न चाहता। मजहबी भेद-भाव उनमें नहीं था। उनके एक ब्राह्मण दोस्त कभी-कभी हफ्तों उनके साथ रहते, और उनके घर पर ही पूजा-पाठ करते, सूरज को जल चढ़ाते, वेद-पाठ करते, पर शाह साहब के घर उनको कभी कोई दिक्कत न होती। मजहबी उपदेश देते वक्त भी वह इस बात का बेहद खयाल रखते थे कि कोई ऐसी बात न निकल जाय जो किमी के भी दिल को दुखावे।

ऐसी अच्छी फकीरी तबियत और दूसरों के दिल न दुखाने का इतना खयाल रखते हुए भी शाह साहब को उस ज़माने की सरकार और कट्टर खयाल के लोगों की तरफ से ज़िन्दगी भर कड़ी मुश्किलें और मुसीबतों का सामना करना पड़ा। उन्हें दो बार ज़हर दिया गया। एकबार छिपकली का उबटन उनके बदन से मलवा दिया गया जिससे उन्हें कोढ़ की बीमारी हो गई। इसके बाद भी जब उनके दुश्मनों ने देखा कि वह अपने असूलों पर ज्यों के त्यों कायम हैं और उसी जोश और दिलेरी के साथ अपनी तहरीक फैला रहे हैं तो फिर हुकूमत की तरफ से उनको देहली से देश निकाला दिया गया। हुकूम हुआ कि देहली से बाहर एक खास हद तक वह किमी सवारी का इस्तेमाल भी नहीं कर सकते। नतीजा यह हुआ कि उन्हें जौनपुर तक पैदल जाना पड़ा। रास्ते में लू लगने से हमेशा के लिये उनकी आँखों की रोशनी जाती रही।

यह तमाम सज़ियाँ शाह अब्दुल अजीज हँसते-हँसते भेल गये, वह जानते थे कि इन्क़लाब का रास्ता इन तकलीफ़ों और परेशानियों के भाड़-भाँवरों में होकर ही जाता है। सब के साथ उनको बर्दाश्त कर लेने से ही कामयाबी मिल सकती है।

देश निकाले के ज़माने में शाह साहब ने कितनी ही किताबें लिखीं। इनमें उन किताबों का तफ़्सीलवार जवाब था, जो इस असें में शाह वलीउल्लाह साहब या उनकी जमात के खिलाफ़ लिखी गई थीं। इन किताबों में सब से ज्यादा मशहूर 'तोफ़ा असना अशरिया' है। यह फ़ारसी

में है। दूसरी है 'तफ़सीर फ़तहुल अजीज' जिसमें शाह वलीउल्लाह साहब की किताब 'तफ़सीर फ़तहुल इमान' की बातों को बड़े फैलाव के साथ समझाया गया है। इसके अलावा 'बस्तानु न मोहदसीन' (हदीस बढ़ाने वालों का हाल), 'शरह मीज़ान मन्तक' (मन्तक याने तर्क पर) 'उजाल ए नाफ़िया' (हदीस के असूल) वगैरा और भी बहुत सी ऐसी किताबें लिखीं जो अरबी फ़ारसी के साहित्य में शाह साहब का नाम हमेशा रोशन रखेंगी।

बेश निकाले की बियाद खत्म होते ही शाह साहब फिर देहली आ मौजूद हुए और तालीम देने का काम शुरू कर दिया। यह वह ज़माना था जब नए-नए पीढ़ें और बिदअतियों यानी अपने मतलब के लिये नए-नए असूलों को गढ़ कर उनको ही मजहबी फ़र्ज़ क़ार देने वालों का जोर था। एक बुर्ज़ा का कहना है—“शहर भर के गुन्डे और बदमाश कल्ले रखाये, रंगीन कपड़ों में सजे-धजे सूफ़ी बने घूमते थे। मामूली आदमी ही नहीं शाहज़ादे और शाहज़ादियाँ भी उनका मुर्दा या चेला होना अपने लिये एक बड़ी बात समझते थे। इन लोगों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ गई थी कि इनमें से कोई कोई मसजिद के मुल्लाओं के पास जाकर कहते—‘ऐ मसजिद के मेढे ! ला हमें कुछ दे, आज हमें.....जाना है’ और बेचारे मुल्ला को अपनी जान छुड़ाने के लिये कुछ न कुछ देना ही पड़ता था।”

राजकाजी हालत यह थी कि ख़ास देहली में एक अंग्रेज़ रेज़िडेंट रहने लगा था जो कभी ख़ुशामद से, कभी लालच से और कभी-कभी ख़ाल आँखें दिखाकर उस वक़्त के कमज़ोर मुग़ल बादशाह से मन चाहे काम करा लिया करता था। बंगाल बिहार की दीवानी यानी वहाँ की माना मुण्डारी बसूल करने का अख़्तियार अंग्रेज़ कम्पनी को सौंपा जा चुका था

और वहाँ के लाखों घराने कम्पनी की ज़ालिम हुकूमत के नीचे दबे कराह रहे थे। बाक़ी हिन्दुस्तान में भी एक दो हिन्दुस्तानी हुकूमरानों को छोड़कर सब के सब राजे नवाब अंगरेज़ों के हाथ की कठपुतली बने हुए बेशर्माँ के साथ एक दूसरे पर गुर्गते रहते थे।

यह हालत बर्दाश्त की हद पारकर चुकी थी और ज़रूरी हो गया था कि क़लम और ज़बान के साथ-साथ तलवार का भी सहाग लिया जाये। पर उस वक़्त शाह साहब की जमात की बिसात ही क़ितनी थी, फिर भी चुप बैठ सकना मुशकिल था।

शाह साहब ने इसके लिये पहला काम यह किया कि हिन्दुस्तान की उन सब जगहों को, जहाँ आज़ाद इस्लामी हुकूमत नहीं थी, दारुल-हरब करार दे दिया, इसका मतलब यह था कि उन जगहों में रहने वाले हर मुसलमान का यह मज़दबी फ़र्ज हो गया कि या तो वह हुकूमत के ख़िलाफ़ तलवार उठाये या उस जगह को छोड़ दे। उस ज़माने की हालत में यह कोई मामूली बात न थी। और वह भी एक ऐसे मामूली फ़कीर के लिये, जो अपने पीछे सिर्फ़ थोड़े से मुनीद रखता हो, खुद कोढ़ की बीमारी में गिरपतार हो, आँखों की रोशनी जा चुकी हो जिसकी बजह से वह अपनी जगह से हिलने-जुलने में भी किसी दूसरे आदमी का महोताज हो।

शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब यह फ़तवा देकर ही नहीं बैठ गये। इनक़लाब की फ़ौजी तय्यारियों के लिये उन्होंने बाक़ायदा एक “बोर्ड” बनाया जिसके सदर शाह साहब के शागिर्द सय्यद अहमद साहब बरेलवी और उनके नायब शाह साहब के भतीजे शाह इस्माईल और शाह साहब के दानाद मौलाना अब्दुल हकी बनाये गये। उस बोर्ड ने जनता को मुल्क का असली हाल बताने और उसके ख़िलाफ़ लड़ने के वास्ते रंगरूट भरती करने के लिये हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों का दौरा शुरू किया। अपने काम में इस बोर्ड को निहायत कामयाबी हुई।

कहा जाता है यह लोग जहाँ भी पहुँचते थे, उसी जगह हजारों मुसलमानों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। वह लोग सय्यद अहमद साहब की बैन करते थे यानी उनको अपना गुरु मान लेते थे और मुल्क व मजहब के नियम जान देने की कसम खाते थे।

धूमते-धूमते जब यह बोर्ड रामपुर पहुँचा, तो वहाँ के कुछ अफगानों ने सय्यद साहब से शिष्यायन भी कि पंजाब की सिक्ख हुकूमत अंग्रेजों से मिल रही है। सय्यद अहमद साहब पर इसका बड़ा असर पड़ा और उन्होंने सब से पहले भिक्षुओं से मुलुक्त लेने का इगदा किया। उसदिन से इस मुल्क की आज्ञा दी का तहरीक कुछ दिनों के लिये एक फिर्केवाराना तहरीक बन गई।

इस तहरीक के सिक्खों की तरफ मुड़ते ही अंगरेज जो आज तक उस जमात को दुशमनी की निगाह से देखते थे उल्टे उसके हिमायती बन गये। अब जहाँ-जहाँ सय्यद साहब जाते वहाँ-वहाँ अंगरेज उनकी आवभगत करते। कानपुर में तो किसी अंगरेज की बीवी भकायदा सय्यद साहब की मुरीद बनी और उसने कई हजार रुपये उनकी आर और उनके कई सौ साथियों की स्वातिरदारी में खर्च किये। यहाँ पर यह न भूल जाना चाहिये कि सय्यद साहब जिस सिक्ख हुकूमत के खिलाफ लड़ने की तैयारी कर रहे थे उसका राजा रंजीतसिंह अंग्रेजों का बहुत गहरा दोस्त था। दोस्त होते हुए भी अंग्रेजों को उसकी तरफ से बड़ा डर रहता था यही वजह थी कि एक तरफ तो अंगरेज राजा रंजीतसिंह की दोस्ती का दम भरते थे और दूसरी तरफ उसकी हुकूमत के खिलाफ उन तय्यारियों को न सिर्फ चुपचाप बर्दाश्त कर रहे थे, बल्कि उसमें तरह-तरह की मदद पहुँचा रहे थे। असल में उन्हें यह देखकर बड़ी खुशी थी कि जिस जमात से उन्हें इतना बड़ा खतरा था वह अब अपने ही एक देशवासी से टकराने जा रही है। इसका नतीजा कुछ भी हो, यानी सिक्ख हुकूमत की जीत हो या दुशमन कामयाब रहे, अंगरेज दोनों तरफ अपना फायदा समझे हुए थे।

इतने ही में सय्यद अहमद साहब एक बड़े जत्थे के साथ हज को तशरीफ़ ले गए। सिक्खों से उनकी टक्कर रुक गई।

हज के लिये खाना होने के लगभग दो साल बाद यानी सन् १८२४ में शाह अब्दुल अजीज साहब का एक मामूली बीमारी के बाद इन्तक़ाल हो गया। इस वक्त आपकी उम्र अस्सी साल की थी। जब तक जिये, अपने बाप की हिदायत के मुताबिक़ अपने मुल्क को विदेशियों के असर से, आज़ाद करने की कोशिश करते रहे। इसी खयाल से आपने सय्यद अहमद साहब को नवाब अमीर ख़ाँ पिन्डारी के लश्कर में दाखिल कराया, जहाँ वह घुड़सवार फ़ौज के एक ऊँचे ओहदेदार रहे। बाद में अमीर ख़ाँ ने जब अंग्रेज़ों से सुलह कर ली और सय्यद साहब के बार-बार कहने पर भी अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ना मंज़ूर न किया, तो सय्यद साहब वहाँ से अलग होकर शाह साहब के पास चले आए। अमीर ख़ाँ की नौकरी छोड़ते वक्त आपने शाह साहब को लिखा था कि नवाब साहब अब अंग्रेज़ों के साथ मिल गये हैं, इसलिये यहाँ रहना फ़िज़ल है। इसीलिये मैंने उनकी नौकरी भी छोड़ दी है।

शाह साहब और सय्यद अहमद साहब किसी भी तरह अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान में टिकने देना नहीं चाहते थे।

शाह अब्दुल अजीज साहब अपने मरने से पहले यह वसीयत कर गये थे कि मेरे कफ़न दफ़न में ज़रा भी शान शौकत से काम न लिया जाय। वह हमेशा मोटी धोतर का कुर्ता और खदर का पाजामा या तहबन्द पहिनते थे और अपने कफ़न के लिये भी खदर की ही वसीयत कर गये थे। इसके अलावा उन्होंने एक बड़ी बात, जो उनके दिल का सच्चा पता देती है, यह कही थी कि मेरे जनाज़े में शरीक होने की दावत बादशाह को न दी जाय।

यह सब किया गया, फिर भी जिस शान शौकत के साथ दिल्ली में जनतप ने अपने इस सच्चे रहबर और जानिसार को दफन किया वह बादशाहों को भी नमीब होना मुश्किल है। भीड़ इतनी थी कि जनाजे की नमाज पचपन मर्तेबा पढ़ी गई।

इस तरह मुल्क में आम लोगों की हुक्मत कायम करने के लिये लड़ने वाली इस जमात का यह दूसरा इमाम भी अपनी जिन्दगी का एक-एक पल इसी फ़िक्र और बशमकश में बिता कर मौत की गोद में मो गया।

—————

“दूसरों के लिये अपनी जान न्योछावर कर देने से बढ़कर कोई धर्म नहीं.....एक वक्त आयगा जब तुम्हें इसी नेक काम के बदले में सजा भुगतनी पड़ेगी, लोग तुम्हें अपनी जात, अपने समाज से बाहर निकाल देंगे और तुम्हें मौत की मजा तक देंगे और यह सब जुल्म वह दीन धरम और भगवान के नाम पर करेंगे.....लेकिन नेक काम के लिये तकलीफ़ें उठाने से भगवान खुश होते हैं। ईसा दूसरे लोगों के लिये ही सूली पर चढ़े। तुम्हें उनके दिखाये हुए इसी रास्ते पर चलना चाहिये—” (इन्जील, यूहना १५, १६; पीटर २, १६ और २०)

—:ॐ::—

शाह मुहम्मद इसहाक

शाह अब्दुल अजीज ने शाह बलीउल्लाह साहब की इनकलाबी तहरीक को कागज कलम और बहम स्वाहिमे से निकाल कर बहुत कुछ सिपाहियाना निग्राम पढ़िना दिया। इसके बाद सन् १८२४ ई० में शाह अब्दुल अजीज इस दुनिया से चल दिये और शाह मुहम्मद इसहाक इस तहरीक के तीसरे इमाम बनाये गये। रिश्ते में वह शाह अब्दुल अजीज साहब के धेवते थे। शाह मुहम्मद इसहाक का सारा पन्ना लग्बना अपने नाना के मदरसे में ही हुआ था। इसीलिये अभी जब तक उनके मुँह से माँ के दूध का गन्ध भी अच्छी तरह नहीं गई थी, तभी से वह अपने बड़े नाना शाह बलीउल्लाह के मिरान और उनके उसूलों में दिलचस्पी लेने लगे थे। उन उसूलों के प्रचार के मिलमिले में उनके नाना शाह अब्दुल अजीज साहब को जो जो तकलीफें फैलनी पड़ी थी वह बहुत कुछ शाह मुहम्मद इसहाक ने अपनी आँखों देखी थीं। उनकी तावयत पर दुका बहुत बड़ा असर था।

शाह अब्दुल अजीज ने अपने धेवते को छोटी उमर से ही पहिचान लिया था। वह समझ गये थे कि उनके बाद उनकी तहरीक को चलाने के लिये सबसे उयादा ठीक नेता मुहम्मद इसहाक ही हो सकते थे। फौजी संगठन के लिये उन्होंने सय्यद अहमद साहब की सदारत में मौलाना अब्दुल हयी और शाह इसमाईल साहब का एक फौजी बोर्ड बनाया। उसके साथ ही तमाम ग़ैर फौजी कामों के लिये जैसे प्रचार वगैरा, एक दूसरा बोर्ड बनाया जिसके सदर शाह मुहम्मद इसहाक साहब थे। इस तरह अपनी जिन्दगी में ही उन्होंने अपने

प्यारे धेवते को मुल्क के लिये एक ऐसी जमात की सरदारी का काँटों भरा ताज पहिना दिया, जिसे अंगारों से भरे रास्ते से गुजर कर अपनी मंजिल तक पहुँचना था ।

सन् १८२४ में शाह मुहम्मद इसहाक साहब ने इस इनकलाबी तहरीक की कमान हाथ में ली । देहली के शाही तख्त पर उस वक्त्र सम्राट अकबर शाह थे । पर वह नाम के ही बादशाह रह गये थे । हिन्दुस्तान के असली मालिक ईस्ट इन्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट और देहली के दरबार में कम्पनी का रेजीडेण्ट चार्ल्स मेटकाफ़ थे । मेटकाफ़ ने अपने घमंड भरे बरताव और गुस्ताखियों से बादशाह के नाकोदम कर रक्खा था । यों तो कुछ दिनों पहले से देहली की बादशाहत कमजोर होती जा रही थी, फिर भी हिन्दुस्तान में रहने वाले अंग्रेज अक्सर कम-से-कम दिखावे के लिये बादशाह के साथ इज्जत का बर्ताव करते थे और अपने को उसकी रिआया जाहिर करते थे । लेकिन लार्ड एमहर्स्ट और चार्ल्स मेटकाफ़ ने इस परदे को भी उतार कर फेंक दिया । इससे पहले देहली के दरबार में रहने वाला हर अंगरेज रेजीडेण्ट और सब दर्बारियों की तरह बादशाह को “तसलीम कोरनिश और मुजरा” किया करता था और शाही खानदान के हर बच्चे की मुनासिब इज्जत करता था । लार्ड एमहर्स्ट की शह पाकर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इस परम्परा को बदल दिया और भरे दरबार में ऐसी हरकतें करनी शुरू कर दीं, जो बादशाह की शान और इज्जत में बड़ा लगाने वाली थीं । अंगरेजों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ गई थी कि बादशाह अकबर शाह ने जब अपने एक बेटे मिरजा सलीम को अपना वली अहद बनाना चाहा, तो अंगरेजों ने उसे इलाहाबाद भेजकर नजरबन्द कर दिया । इसके बाद जब बादशाह ने अपने दूसरे बेटे मिरजा नीली को अपने बाद तख्त का हकदार बनाना चाहा, तो अंगरेजों ने उसकी भी मुसालफ़त की । इन बातों से तंग आकर बादशाह ने राजा राममोहनराय को अपना एलची बनाकर बिलायत भेजा और

ब्रिटिश पार्लियामेन्ट से इन्साफ़ कराने की कोशिश की, पर राजा राम-मोहनराय को भी नाउम्मीद लौटना पड़ा। इंगलिस्तान के हाकिमों ने राजा राम-मोहनराय की एक न सुनी।

जो हालत देहली की थी, ठीक वही हालत बाक़ी हिन्दुस्तान की थी। आये दिन हिन्दुस्तान की रियासतों को एक दूसरे से लड़ा कर किसी न किसी राजा या नवाब के गले में कम्पनी की गुलामी का तौक डाल दिया जाता था, और जो मुख़ालफ़त पर डट जाता था उसे बर्बाद कर दिया जाता था। आम लोगों के साथ अंग्रेजों के बर्ताव की यह हालत हो चली थी कि कहीं-कहीं वह अपने सामने किसी हिन्दुस्तानी का घोड़े पर चढ़ कर निकल जाना भी बरदाश्त नहीं करते थे, और जगह-जगह खासकर कम्पनी की फ़ौजों के अन्दर लोगों के मजहबी व समाजी मामलों में भी दख़ल देने लगे थे।

अंग्रेज पादरी खुले आम हिन्दू मुसलमानों के अवतारों और पैग़म्बरों पर छींटे बसते थे। २२ मार्च सन् १८३२ को पार्लियामेन्ट की सिलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए कप्तान टी० मैकन ने कहा था—“बहुत से इज्जतदार हिन्दुस्तानी मुसलमानों ने मुझ से बयान किया है कि गवर्नमेन्ट ईसाई पादरियों के साथ बड़ी रियायतें करती है, और यह पादरी लोग उनके मजहबी रिवाजों को बुरा कहने और बजुर्गों को गालियों देने तक की हद को पहुँच जाते हैं।” इनमें से एक पादरी हिन्दू मुसलमान जनता से तक्रीर करते हुए कह रहा था—“तुम लोग हज़रत मुहम्मद के ज़रिये अपने गुनाहों की माफ़ी चाहते हो, लेकिन हज़रत मुहम्मद इस वक़्त XXX में हैं और अगर तुम लोग उनके उसूलों पर यक़ीन करते रहोगे, तो तुम सब भी XXX में जाओगे।”

यह उस वक़्त के हिन्दुस्तान की एक धुँदली सी तस्वीर है।

शाह मुहम्मद इसहाक साहब को इमामत की गद्दी संभालते कुछ ही दिन हुए थे कि सय्यद अहमद साहब भी हज से वापस आ गये। उन्होंने भी शाह मुहम्मद इसहाक साहब को अपना नेता माना। जब कभी मदरसे के अन्दर कोई जलसा होता था, तो सदरत की चौकी पर शाह मुहम्मद इसहाक बैठते थे और सय्यद अहमद साहब नीचे बैठते थे, और जब कोई फौजी या जंगी बहस होती थी, ग्वास कर मदरसे से बाहर, तो फ़ाजी बोर्ड के सदर की हैसियत से, सय्यद अहमद साहब सदरत करते थे और मुहम्मद इसहाक साहब नीचे बैठते थे। मतलब यह कि गो सय्यद अहमद साहब उमर में बड़े थे, फिर भी अपने उस्ताद शाह अब्दुल अजीज की आखरी वसीयत के मुताबिक़ तमाम ग़ैर फ़ौजी कामों में मुहम्मद इसहाक साहब को ही अपना नेता मानते थे।

हज से वापस आने के कुछ दिन बाद ही सय्यद अहमद साहब करीब दो हजार साथियों को लेकर सिन्ध के रास्ते काबुल पहुँचे और फिर खैबर के रास्ते पेशावर लौट आए। यह तमाम काफ़ला बड़ी धूम-धाम से अंग्रेज़ों की जानकारी में खाना हुआ, लेकिन अंग्रेज़ों ने इसमें कोई रोकथाम नहीं की। वजह साफ़ थी अंग्रेज़ राजा रनजी-सिंह की ताकत से बुरी तरह डरते थे। एक तरफ़ वह राजा रनजीतसिंह के दोस्त बने हुए थे और दूसरी तरफ़ मुल्क भर में यह भूटा प्रचार कर रहे थे कि पञ्जाब की सिकख़ हुकूमत मुसलमानों पर बड़े जुल्म कर रही है। अंग्रेज़ों की यह चाल बहुत काम कर गई। कुछ दिनों के लिये हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की गुलामी से छुड़ाने का इरादा रखने वाली इनफ़लावर की यह लहर सिकख़ों की तरफ़ मुड़ गई, और इसके बहादुर नेता अपने देश भाइयों के मुक़ाबले में ही अड़ गये।

सय्यद अहमद साहब सरहद के पहाड़ों में सिकख़ हुकूमत के खिलाफ़ बड़ी बहादुरी से लड़े और सिकख़ हुकूमत भी बड़ी बहादुरी से

उनका मुकाबला करती रही। अंग्रेज एक तरफ तो राजा रनजीतसिंह को सय्यद अहमद साहब के खिलाफ मदद देते रहे, और दूसरी तरफ जब देहली के एक हिन्दू रईस ने सय्यद अहमद साहब की जमात का वह रुपया जो उसके यहाँ जमा था, देने से इन्कार कर दिया, तो, अंग्रेजों ने उस पर जोर डालकर वह रुपया सय्यद अहमद साहब के पास सरहद भिजवाया। इस तरह अंग्रेज बराबर दोनों तरफ मिले रहे और दोनों की मदद करते रहे।

६ मई सन् १८३१ को बाला कोट के मैदान में सय्यद अहमद साहब को लड़ते-लड़ते मिर्ख फौज ने मार डाला। मिर्ख फौज के अफसरों ने बड़ी इज्जत के साथ उनको दफन किया। दूसरी तरफ उनके लश्कर में यह अफवाह फैल गई कि सय्यद अहमद साहब कहीं गायब हो गए हैं और फिर वापस आवेंगे। हिन्दुस्तान और सरहदी इलाक़ों में आज भी एक ऐसी जमात है जो इस पर यकीन करती है कि सय्यद अहमद साहब अभी जिन्दा हैं और मेहदी का अवतार हैं। पर सच यह है कि वह जोरदार लहर जो अंग्रेजों को मुल्क से निकालने के लिये उठी थी, अंग्रेजों की होशियारी से अपने मुल्क वालों ही से टकरा कर खत्म हो गई।

सय्यद अहमद साहब के मरने के बाद इस इनकलाबी पार्टी में एक दूसरे के खिलाफ दो दल हो गये। एक तरफ शाह मुहम्मद इसहाक और उनके खयाल के लोग यह कहते थे कि मुल्क के अमली दुश्मन अंग्रेज हैं और मुल्क या मजहब की कोई तरक्की उस वक्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि अंग्रेज के पैर हिन्दुस्तान में जमे हुए हैं। इसलिये हमें सिक्खों से लड़ने के बजाय, अपने मुल्क वालों से मिलकर अंग्रेजों को बाहर निकालना चाहिये। दूसरी तरफ सादिकपुर के मौलाना विलायत अली और उनके कुछ साथियों की राय थी कि सिक्खों के खिलाफ लड़ाई जारी रखनी चाहिये। शाह मुहम्मद इसहाक

की पार्टी का जोर रहा। इसलिए मौलाना विलायत अली देहली की मरकजी कमेटी से अलग हो गये। उनकी औलाद आज भी सरहद के पहाड़ों में मौजूद है।

अब इस तहरीक का सीधा मोरचा अंगरेजों से था। शाह वली-उल्लाह की तहरीक का यह नया दौर था जो खालिस नेशनल या मुल्की था। पूरे ग्यारह साल गौर करने के बाद शाह मुहम्मद इसहाक साहब ने एक नया प्रोग्राम बनाया। अंगरेजों से लड़ने के लिये मौलाना ममलूक अली की सदारत में मौलाना कुतुबुद्दीन देहलवी, मौलाना मुजफ्फर हुसैन साहब कान्धलवी और मौलाना अब्दुलगनी का एक बोर्ड बना कर वह खुद मका गये। वहाँ उन्होंने तुर्की सलतनत से अपने सम्बन्ध कायम किये और तुर्की की मदद से अंगरेजों को हिन्दुस्तान से निकालने की कोशिश करने लगे। देहली के बोर्ड को वह बराबर हिदायतें भेजते रहते थे। कुछ दिनों में अंगरेजों को शाह मुहम्मद इसहाक साहब की कोशिशों का पता लगा। फौरन ब्रिटिश गवरमेन्ट की तरफ से तुर्की की हुकूमत पर यह जोर डाला गया कि वह शाह मुहम्मद इसहाक साहब को, जो उस वक्त तुर्की में थे, अपनी हुकूमत से बाहर निकाल दे। शाह साहब बड़ी मुसीबत में पड़ गये। वहाँ के शेख अकरम नाम के एक शख्स की मदद से उन्होंने यह इजाजत हासिल कर ली कि वह हेजाज में रह सकते हैं।

देहली का बोर्ड, अंगरेजों की नज़रों से बचा रहा क्योंकि उसके सदर मौलाना ममलूक अली थे, जो देहली कालिज में प्रोफ़ेसर थे। कहा जाता है मौलाना ममलूक अली को बोर्ड का सदर इसीलिये बनाया गया था जिससे यह तमाम तहरीक अंगरेज रेजीडेण्ट की ख़ूनी आँखों से बची रहे। कुछ दिन बाद जब तहरीक के इनक़लाबीपन में कुछ हलकापन आने लगा तो शाह मुहम्मद इसहाक साहब ने उनकी जगह हाजी इमदादुल्ला साहब को मुक़र्रर कर दिया। वह वही हाजी इमदादुल्ला साहब

हैं, जिन्होंने सन् १८५७ में शामली के मोरचे पर अँगरेजों के दाँत खट्टे कर दिये थे और १८५७ की क्रान्ति नाकाम होने पर अपने दो साथियों को लेकर हेजाज जा पहुँचे थे। अँगरेज सरकार लाख कोशिश करने पर भी उन्हें गिरफ्तार नहीं कर सकी थी।

सन् १८४६ में जब पूरे हिन्दुस्तान में ग्यारह बरस बाद आने वाले इनक़लाब की गड़गड़ाहट सुनाई पड़न लगी थी, हिन्दुस्तान से बाहर शाह मुहम्मद इसहाक साहब का शरीर छूट गया ! शाह वलीउल्लाह साहब की पाक तहरीक को फ़िक्रेंवाराना भाड़भङ्गाड़ों से निकाल कर फिर से सही रास्ते पर लाना उन्हीं का काम था। इस तरह उन्होंने न सिर्फ़ उस जमात की, जिसके वह इमाम थे, बल्कि सारे मुल्क की भारी ख़िदमत की। इसके लिये उन्होंने अपने साथियों का विरोध सहा और देश विदेशों की खाक छानी। वह इस जमात के तीसरे इमाम थे। फिर भी इस नए दौर के वह पहिले इमाम माने जा सकते हैं। इस तरह उनकी शख्सियत इतिहास की नज़र से बहुत अहमियत रखती है। शाह वली उल्लाह साहब की जमात का जो आज कल का रुख है उसका बहुत बड़ा सेहरा शाह मुहम्मद इसहाक साहब के सर है। वह आज़ादी के सपनों को लिये हुए इस दुनिया से चले गये। काश ! वह ग्यारह साल और बैठे रहते और सन् १८५७ के इनक़लाब की एक भलक उन्हें देखने को मिल जाती, जिसमें उनके साथियों और शागिदों ने बड़ी हिम्मत और दिलेरी से हिस्सा लिया था।

हाजी इमदादुल्ला साहब

मन् १८४६ में वली उल्लाई जमात के तीसरे इमाम शाहमुहम्मद इसहाक साहब का मकके में इन्तकाल हो गया। उनकी जगह हाजी इमदादुल्ला साहब इस जमात के चौथे इनाम चुने गए। मन् १८४१ में मुहम्मद इसहाक साहब के मक्का चले जाने के कुछ बरस बाद से ही, उनकी हिदायतों के मुताबिक हाजी इमदादुल्ला साहब हिन्दुस्तान में इस संगठन को चला रहे थे। उनके काम करने के ढंग ने शाह मुहम्मद इसहाक साहब के और जमात के दूसरे काम करने वालों और नेताओं के दिलों में उनके लिये एक घर कर लिया था। यही वजह थी कि जब आगिरी वक्त में शाह मुहम्मद इसहाक साहब ने वलीउल्लाई जमात की इमामत के लिये हाजी इमदादुल्ला साहब के नाम की बमियत की, तो सब को ऐसा मालूम हुआ जैसे शाह साहब ने उनके ही दिल की बात कह दी हो।

हाजी इमदादुल्ला साहब की पैदायश मन् १२३३ हिजरी में कस्बा नानौत (सहारनपूर) में हुई थी। आपका बचपन का नाम इमदाद हुसैन था। पढ़ने लिखने में आप बचपन से ही बहुत तेज थे। यह आप की व मुल्क की खुश किम्बती थी कि आपको शेख मुहम्मद कलन्दर, शेख इलाही बख्श साहब कान्धलवी और शेख नसीरुद्दीन साहब देहलवी जैसे गुरु मिल सके, जिन्होंने अपने इस شاगिर्द के दिल को खुदा परस्ती और देश भक्ति की रोशनी से जगमगा दिया।

हाजी इमदादुल्ला साहब अपने इन उस्तादों के जरिये शाह वलीउल्लाह साहब के असलों और उनकी जमात के कामों से वाफ़ि़क हुए और फिर खुद उसमें शरीक हो गए। शुरू में उनका ताल्लुक

सय्यद अहमद साहब बरेलवी और उनकी उम जमात से रहा, जो सरहद पर अंगरेजों ने जंग कर रही थी। लेकिन सन् १८३१ में सय्यद अहमद साहब बालाकोट के मैदान में मारे गए। तब आपने दिल्ली के मदरसे से अपना नाता फिर से जोड़ने की जरूरत देखी। यह एक बड़ी बात थी, क्योंकि उस वक्त तक सय्यद अहमद साहब की जमात के बहुत से लोग इस खयाल के हो चुके थे कि दिल्ली के मदरसे से कोई वास्ता न रख कर अपना अलग संगठन बनाया जाय और सिखों के खिलाफ जेहाद जारी रखा जाय। पर हाजी इमदादुल्ला साहब अच्छी तरह जानते थे कि मुल्क के अमली दुश्मन मिख नहीं अंगरेज हैं। उस वक्त सिखों और अंगरेजों में गहरी दोस्ती थी। लेकिन यह सिर्फ अंगरेजों की एक चाल थी जिससे सिख और मुसलमान आपस में टकरा कर एक दूसरे की ताकत कमजोर करते रहें और अंगरेजों की ताकत बढ़ती रहे।

इस खयाल को लेकर जब हाजी इमदादुल्ला साहब दिल्ली पहुँचे, तो मालूम हुआ कि दिल्ली के मदरसे के इमाम शाह मुहम्मद इसहाक साहब मक्का जा चुके हैं और वहीं से हिन्दुस्तान में अपने संगठन को मजबूत करने में जुटे हुए हैं। आप शाह मुहम्मद इसहाक साहब से मिलने के लिये फौजन मक्का गए। वहाँ करीब एक माल तक रह कर शाह मुहम्मद इसहाक साहब से सलाम मशायिग करते रहे कि हिन्दुस्तान में लोगों को कैसे जगाया जावे और कैसे इत्कलाय पैदा किया जावे। शाह मुहम्मद इसहाक साहब पर उनकी इस एक साल की संगत का यह असर पड़ा कि उन्होंने हाजी इमदादुल्ला साहब को अपना नायब इमाम या 'मशीर' बना दिया। हाजी इमदादुल्ला साहब सन् १२६२ हिजरी में हिन्दुस्तान लौटे और यहाँ इसी हैसियत से काम करते रहे। सन् १८४६ ई० में शाह मुहम्मद इसहाक साहब के इन्तकाल हो जाने पर इस जमात का पूरा बोझ हाजी इमदादुल्ला साहब पर आ पड़ा।

सन् १८४६ का जमाना हिन्दुस्तान के लिये बड़ी उथल पुथल का था। यों तो हिन्दुस्तान की सर ज़मीन पर जब से अंगरेज़ों ने पैर रक्खा, तभी से यहां के लोगों के लिये सुख की नींद सोना हराम हो गया, लेकिन इधर ज्यों ज्यों दिल्ली के मुगल बादशाह की हालत और ताक़त कमज़ोर होती गई, त्यों त्यों अंगरेज़ों के जुल्म और ज़ब्र भी बढ़ते चले गए। इस जुल्म और ज़ब्र के ख़ास शिकार उस वक़््त मुसलमान थे, क्योंकि वली-उल्लाही जमात की तहरीक ने मुसलमानों में जो बेदारी पैदा कर दी थी उसे कम्पानी के नुमाइन्दे और हाकिम फूटी आंखों भी नहीं देखना चाहते थे। लार्ड एलेनबरो ने, जो सन् १८४२ से १८४४ तक हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल रहे, अपने १८ जनवरी सन् १८४३ के एक ख़त में ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन को लिखा था—“मैं इस हकीकत की तरफ़ से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता की मुसलमान क्रौम जड़ से ही हमारी दुश्मन है। इस लिये हमारी सच्ची पालिसी हिन्दुओं को अपनी तरफ़ मिलाए रखने की होनी चाहिये।” अपनी गवर्नर जनरली के वक़््त में वह अपनी इसी चाल के मुताबिक़ काम करते रहे।

मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुओं के दिलों में नफ़रत और गुस्सा पैदा कराने के लिये लार्ड एलेनबरो ने लकड़ी के दो दरवाज़े तैयार कराये। फिर इन दरवाज़ों की बाबत मशहूर किया गया कि यह सोमनाथ के मंदिर के वह दरवाज़े हैं जिनको महमूद ग़ज़नवी मन्दिर के फाटक से उतरवा ले गया था। लार्ड एलेनबरो ने १६ जनवरी १८४२ को हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दू सरदारों और राजा महाराजाओं के नाम एक ऐलान शाय किया। इस ऐलान में अंग्रेज़ों और अंगरेज़ी सरकार को हिन्दुओं का ख़ास हिमायती बताया और कहा कि इन दरवाज़ों को अंगरेज़ ग़ज़नी से ले आए हैं और सोमनाथ के मंदिर में हम इनको फिर से लगवा देंगे। इसके बाद उन दरवाज़ों के जगह जगह जुलूस निकलवाए गए। बाद में

पता चल गया कि दरवाजे जाली थे। वह जाली दरवाजे आज तक आगरे के किले में रखे हुए हैं।

यह तो अंग्रेजों की फूट डालने वाली पालिसी की एक मिसाल है, जो तमाम हिन्दुस्तान में फैली हुई थी। कम्पनी के इलाके में आम जनता के साथ अंग्रेजों का बरताव यह था कि अगर कोई हिन्दुस्तानी घोड़े पर सवार होकर अंग्रेजों के सामने से निलता था, तो वह यह बरदाश्त नहीं कर सकते थे। ऊँची से ऊँची हैसियत के हिन्दुस्तानी को एक मामूली अंग्रेज टामी की इज्जत के लिये घोड़े से उतरना पड़ता था। तमाम मुल्क में हिन्दू या मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिये बड़े जोश के साथ काम हो रहा था। इस बारे में ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों की कमेटी के सदर मिस्टर मैगन्स ने एक बार इंग्लैंड की पार्लिमेन्ट में कहा था—“परमात्मा ने हिन्दुस्तान का लम्बा चौड़ा साम्राज्य इंगलिस्तान को इसलिये सौंपा है कि हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसामसीह का झण्डा फहराने लगे। हममें से हर एक को अपनी पूरी ताकत इस काम में लगा देनी चाहिये जिससे तमाम हिन्दुस्तान को ईसाई बनाने के काम में देश भर में कहीं से ज़रा भी ढील न आने पावे।”

यह ‘ईसाई बनाने का काम’ कहीं अस्पताल खोल कर तो कहीं हिन्दुस्तानी प्रौजी अफसरों को ईसाई मत में दाखिल होने पर तरक्की देने के सहारे चल रहा था। इसके अलावा जगह जगह स्कूल कायम किये जा रहे थे जिनमें ईसाई पादरी हिन्दुस्तानी लड़कों के दिलों पर यह छाप डालने के लिये कि रात में सोते करते थे कि हिन्दुस्तान हमेशा से एक पिछड़ा हुआ मुल्क रहा है, दुनिया में सच्चा मज़हब सिर्फ ईसाइयों का है और उसमें दाखिल होने पर ही उनको दुनियावी व रुहानी तरक्की हासिल हो सकती है।

दिल्ली में शाही तख्त पर उस वक्त बहादुर शाह थे, जिनके हर एक काम में अंग्रेज रेजीडेंट टिटाई के साथ दखल देता रहता था। अगर बादशाह एक शाहजादे को अपना वारिस बनाना चाहते थे, तो अंग्रेज रेजीडेंट दूसरे शाहजादे का नाम लेता था और उसके उभाड़ कर शाहजादों में भी फूट डालने की कोशिश करता था। उस वक्त से पहले गवरनर जनरल का मोहर में 'बाद शाह दिल्ली का फिदवी-ए-शम्' लफ्ज खुद रहते थे, लेकिन अब वह निकाल दिये गए। अब हिन्दुस्तानी सरदारों व रईमों को यह सख्त हिदायत कर दी गई कि वह इन लफ्जों का इस्तेमाल न करें। इस तरह बादशाह की हैसियत सिर्फ वजीर-ए-मलक वाले एक छोटे से रईस की सी हो गई थी। वहीं हाजत मुल्क के दूसरे राजा नवाबों की थी। इस तरह तमाम हिन्दुस्तान में उस वक्त अन्धेरा ही अन्धेरा नजर आता था।

हाजी इमदादुल्ला साहब इन मुशकिलों से नहीं बचराए। उन्होंने पहिले अपनी जमात का फिर से संगठन किया। बदकिस्मती से उस वक्त वलीउल्लाही जमात में भी दो गिरोह हो चुके थे! एक गिरोह के नेता मौलाना विलायतअली सादिकपुरी थे। उन्हें यह यकीन था कि सय्यद अहमद साहब बंगलौर बागवोट के मैदान में नहीं मारे गए, बल्कि किसी वजह से छिप गए हैं और वह जब भी ठीक समझेंगे तब जाहिर होकर मुल्क के दुश्मनों के साथ फिर से लड़ाई शुरू करेंगे। इस गिरोह के लोग अपने इसी यकीन पर बराबर आदमियों की भर्ती कर रहे थे और रुपया भी इकट्ठा कर रहे थे। लेकिन वह अंग्रेजों के साथ लड़ाई छेड़ देने को तय्यार नहीं थे और सय्यद अहमद साहब के इन्तजार में बैठे रहना चाहते थे। हाजी इमदादुल्ला साहब ने उनको साथ लेने की कोशिश की,

लेकिन नाकामयाब रहे। आगिर इन लोगों से अलग रह कर ही उनको काम करना पड़ा।

उस वक्त हाजी इमदादुल्ला साहब के स्वाम साथियों में मौलाना अब्दुलगनी साहब, मौलाना मुहम्मद याकूब साहब, मौलाना मुहम्मद कामिम साहब व मौलाना रशीद अहमद साहब गंगोही थे। इन साथियों को लेकर उन्होंने जगह जगह घूमना शुरू किया और आम जनता को बतलाया कि अंगरेजों की अमलदारी के खिलाफ तलवार उठाने का इससे बेहतर मौका दूसरा नहीं हो सकता।

इसके लिये उन्होंने अपने दिल्ली के मदरसे के तमाम पुराने तालिबानों के साथ नये मिर से ताल्लुक पैदा किये और कुछ ही दिनों में अपने सगठन को कहीं से कहीं पहुँचा दिया।

लार्ड डलहौजी की गियसतो को जव्त करने और हिन्दुस्तान के राजा रईमों के बेइज्जत करने की पालिसी ने भी हाजी इमदादुल्ला साहब के काम में काफी मदद दी। राजाओं और रईमों का यह तयका, जो तब तक छोटी मोटी चालों और लालचों में फँस कर अंगरेजों के साथ अपने ही भाइयों और बराबर वालों के खिलाफ लड़ने लगता था, अब मिल कर अंगरेजों के खिलाफ तलवार उठाने को तय्यार हो गया। लेकिन हाजी इमदादुल्ला साहब को उन पर पूरा भरोसा न था। वह जानते थे कि असली ताकत जनता की ताकत है और कोई भी आजादी की लड़ाई तब तक नहीं चल सकती, जब तक कि आम जनता उसमें हिस्सा न ले। इसलिये राजा नवाबों से ताल्लुक पैदा करने के फेर में न पड़ कर वह अपनी तकरीरों और तहरीरों से आम जनता और खास तौर पर मुसलमानों के बीच प्रचार करते रहे। हाजी इमदादुल्ला साहब एक इनकलाबी नेता होने के साथ साथ उँचे दर्जे

के सूफ़ी और फ़कीर भी थे। उनकी ज़बान में जादू का असर था। वह जिससे मिलते उस पर गहरा असर डालते थे। नतीजा यह हुआ कि सन् १८५७ में आज़ादी की लड़ाई शुरू होते ही हज़ारों मुसलमान उनके झंडे के नीचे जमा हो गए। उनके तमाम शागिदों ने और दिल्ली के मदरसे के सब पुराने तालिबानों ने अपनी अपनी जगह से उस आज़ादी की लड़ाई के लिये काफ़ी रंगरूट दिये और जब तक लड़ाई चलती रही तब तक उसमें आगे बढ़ कर हिस्सा लेते रहे। हाजी इमदादुल्ला साहब खुद भी इस मौक़े पर सिर्फ़ वाज़ (उपदेश) और तक़ीरों तक ही नहीं रहे बल्कि शामली के मोर्चे पर एक सिपहसालार की हैसियत से हिस्सा लेकर उन्होंने यह दिखा दिया कि वह जितने जोश के साथ तक़ीर और तहरीर के मैदान में उतरते थे उतनी ही काबिलियत के साथ लड़ाई के मैदान में भी अपने जौहर दिखा सकते थे। शामली की सन् ५७ की लड़ाई में उनके चारों साथी मौलाना अब्दुलगनी साहब, मौलाना मुहम्मद याक़ूब साहब, मौलाना मुहम्मद कासिम साहब और मौलाना रशीद अहमद साहब गंगोही अपने इस इमाम के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे।

हाजी इमदादुल्ला साहब ने इस मौक़े पर एक बार फिर यह कोशिश की कि मौलाना विलायत अली और उनके साथी भी इस आज़ादी की जंग में शरीक हो जायें और उनके ज़रिये सरहद के पठानों की मदद भी मिल जाय। इसके लिये उन्होंने अपने कुछ शागिदों को सरहद की तरफ़ भेजा लेकिन पंजाब के चीफ़ कमिश्नर सर जान लारेन्स ने सरहद के कुछ मुल्लाओं को पहिले से ही रिश्वतें देकर अपनी तरफ़ मिला लिया था। यह मुल्ला बराबर इस बात का प्रचार करते रहे कि 'यह लड़ाई कभी कामयाब नहीं हो सकेगी। असल लड़ाई तो तब शुरू होगी जब सय्यद

अहमद साहब बरेलवी फिर से जाहिर होंगे।' इस प्रचार ने हाजा इमदादुल्ला साहब की कोशिश को नाकाम कर दिया। अलबत्ता पेशावर और होती मरदान की छावनियों में रहने वाली कुछ पठान पलटनों ने इस लड़ाई में शरीक होने की कोशिश जरूर की पर वक्त से पहिले ही अंग्रेजों को उनके इरादों का पता चल गया। उनसे हथियार रखवा लिये गए और उनमें से एक बड़ी तादाद को तोंपों के मुंह से उड़वा दिया गया।

धीरे धीरे सन् सत्तावन की यह आग ठंडी पड़ने लगी। अंग्रेजों ने तमाम हिन्दुस्तान में इसका सख्त बदला लेना शुरू किया। इस बदले के शिकार खास तौर पर मुसलमान हुए क्योंकि उन्होंने सन् १८५७ की जंग में सब से ज्यादा हिस्सा लिया था। अंग्रेज इस बात से इतने चिढ़ गए थे कि हजारों ही आदमियों को सिर्फ मुसलमान होने के कसूर में फांसी पर चढ़ा दिया गया, या इस लिये मार डाला गया कि दाढ़ी रखने की वजह से वह मुसलमान मालूम होते थे। इन लोगो में भी वलीउल्लाही जमात के काम करने वालों को खोज-खोजकर मिटाने और बरबाद करने की कोशिश की गई। हाजी इमदादुल्ला साहब और उनके साथियों को खास तौर पर गिरफ्तार करने की कोशिश की गई, लेकिन रशीद अहमद साहब गंगोही के सिवा और कोई गिरफ्तार नहीं किया जा सका !

हाजी इमदादुल्ला साहब ने इन तमाम बातों पर एक बार फिर गौर किया। इतनी बड़ी और मुल्क भर में फैली हड़ कोशिश की नाकामी ने उनके दिल को बड़ा सदमा पहुँचाया। उनके हजारों शागिर्द और साथी फांसी पर चढ़ा दिये गए थे या फरार रहकर अंग्रेजों के पंजों से अपनी हिफाजत करते फिरते थे। फिर भी एक सच्चे क्रान्तिकारी की तरह ऐसी

हालत में भी उन्होंने हिम्मत न हारी। अपने साथियों से सलाह मशविरा करने के बाद उन्होंने हिन्दुस्तान का काम मौलाना मुहम्मद कासिम साहब पर छोड़ा और खुद मौलाना मुहम्मद याकूब साहब और मौलाना अब्दुलगनी साहब के साथ छिपते छिपते मक्का जा पहुँचे।

मक्का में पहुँचने के बाद हाजी इमदादुल्ला साहब ने हिन्दुस्तान में अपने किये हुए संगठन को फिर से जमाने की कोशिश की। इसके लिये वह बराबर हिन्दुस्तान में मौलाना मुहम्मद कासिम साहब के पास हिदायतें भेजते रहे। इस वक्त सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि मौलाना मुहम्मद कासिम साहब के नाम भी वारंट था। इसलिए कुछ दिनों तक इस काम में कोई खास सरगमी नहीं दिखाई दी। बरसों बाद आम माफ़ी का ऐलान होने पर हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही छूट कर आ गए। अब मौलाना कासिम साहब को एक साथी मिल गया। उस वक्त हिन्दुस्तान की हालत यह थी कि लोग अंग्रेज के खिलाफ़ सोचने से भी डरते थे। जगह जगह जासूसों का जाल फैला हुआ था। मुसलमान मौलवियों पर खास तौर पर नज़र रखी जाती थी। सन् सत्तावन के बाद अंग्रेजों के जुल्म की याद लोगों के दिलों में ताज़ा थी। उसने दिलों में डर बैठा दिया था।

सब हालत पर ग़ौर करने के लिये वलीउल्लाही जमात के तमाम खास खास नेता हेजाज में जमा हुए और बहुत ग़ौर करने के बाद हाजी इमदादुल्ला साहब की राय से यह तय पाया कि जिस तरह सबसे पहिले इमाम शाह वलीउल्लाह साहब ने मदरसे के जरिये अपने असूलों और ख़यालों का प्रचार किया था, उसी तरह मुसलमानों में फैली हुई मौजूदा कम हिम्मती और उनमें अंगरेजी सल्तनत व अंगरेजी तहज़ीब के बढ़ते हुए असर का मुक़ाबला करने के लिये फिर से एक मदरसा कायम किया जाय। यह भी

तय हुआ कि यह मदरसा किसी ऐसी मामूली जगह कायम हो जहाँ वह अगरेजों की नज़र से बचा रह सके।

इस फ़ैसले को अमल में लाने की ज़िम्मेदारी मौलाना मुहम्मद कासिम साहब पर दी गई और रशीद अहमद साहब गंगोही उनके नायब बनाए गए।

इसके बाद हाजी इमदादुल्ला साहब सन् १३१७ हिजरी यानी क़रीब १८६७ तक ज़िन्दा रहे और अपने गुरु शाह मुहम्मद इसहाक साहब की तरह मक्का से ही इस इनक़लाबी जमात को मदद पहुँचाते रहे। जो मुसलमान हज़ज के लिये मक्का पहुँचते थे उनके ज़रिये हाजी इमदादुल्ला साहब अपना ताल्लुक हिन्दुस्तान से बनाए रखते थे और यहाँ के लिये हिदायतें वग़ैरा भेजते रहते थे। उनके आखिरी शागिर्दों में अब सबसे मशहूर मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी हैं, जो वलीउल्लाही जमात के मौजूदा इमाम और आज़ादी की लड़ाई के एक ज़ने माने हुए बहादुर सिरहसालार हैं।

इस तरह सन् १३१७ हिजरी की किसी तारीख़ को ८४ साल की उमर में हिन्दुस्तान का यह बहुत बड़ा सूफ़ी, बहुत बड़ा फ़कीर, बहुत बड़ा क्रान्तिकारी, बहुत बड़ा आलिम और वलीउल्लाही जमात का चौथा इमाम मौत की गोद में जा सोया। मरते मरते भी उनके दिल में अपने वतन की एक झलक देखने की हसरत थी, पर साथ ही यह तसल्ली थी कि कम से कम ब्रिटिश भंडा उनके सर पर नहीं उड़ रहा है।

मौलाना मुहम्मद कासिम

सन् १८५७ की आजादी की लड़ाई नाकामयाब हो जाने के बाद वलीउल्लाही संगठन के चौथे नेता हाजी इमदादुल्ला साहब मक्का के लिये रवाना हो गये। मक्का जाने से पहले उन्होंने हिन्दुस्तानी मुसलमानों में मुल्क की आजादी के लिये लड़ने और संगठित होने के असूखों का प्रचार करने का काम मौलाना मुहम्मद कासिम साहब को सौंपा। उस वक्त मौलाना मुहम्मद कासिम साहब के सामने ऐसी दिक्रतें थीं, जिनका पूरा-पूरा खयाल भी इस वक्त नहीं किया जा सकता।

उनकी सबसे पहली और सबसे बड़ी दिक्रत तो यह थी कि सन् १८५७ के इन्कलाब में हिस्सा लेने के जुर्म में सरकारी जासूस हाथों में फांसी का फन्दालिये जगह-जगह उनकी मौजूदगी सूँघते फिरते थे। मौलाना का फांसी का डर तो न था, क्योंकि अगर डर होता तो वह हाजी इमदादुल्ला साहब के साथ ही मक्का जा सकते थे। लेकिन वह ज़िन्दा रहना चाहते थे जिससे कि इस तहरीक को, जो पिछले करीब डेढ़ सौ बरस से चहलती आ रही थी और जिसको शाह वलीउल्लाह साहब से लेकर हाजी इमदादुल्ला साहब के ज़माने तक बड़े-बड़े देशभक्तों ने अपने खून से सींचा था, किसी तरह आगे भी ज़िन्दा रख सकें। वह यह भी जानते थे कि हाजी इमदादुल्ला साहब का मक्का चला जाना ही ठीक है। क्योंकि ज्यादा मशहूर होने की वजह से उनके जल्द पकड़े जाने का खतरा है और बाक़ी के साथियों में मैं ही ऐसा हूँ जो इस तहरीक को, जो इस वक्त करीब-करीब बिल्कुल ही खत्म हो चुकी है, फिर से ज़िन्दा करने के लिये कुछ काम कर सकता हूँ। यह वलीउल्लाही संगठन और उसके नेताओं की ईमानदारी का एक बड़ा सबूत है कि ऐसे वक्त में भी उनके निज़ाम में किसी तरह

की फूट नहीं पड़ी। तहरीक के इमाम ने जिससे यह कहा कि वह उनक साथ मक्का चले, वह चला गया और जिससे यह कहा कि वह हिन्दुस्तान में ही रहे, वह हिन्दुस्तान में ही रहा। मौलाना मुहम्मद कासिम साहब के सामने एक दूसरी दिक्कत यह थी कि सन् १८५७ की नाकामयाबी और उसके बाद के अंगरेजों के जुल्मों ने मुसलमानों में बड़ी पस्त हिम्मती पैदा कर दी थी। एक आम खयाल यह पैदा हो गया था कि अंगरेजों की ताकत इतनी बड़ी है कि उनसे लड़ने का खयाल करना अपनी व कौम की बरबादी को न्योता देना है। इसी से यह भी खयाल पैदा हुआ कि जब अंगरेजों से इस वक्त लड़ना नहीं है और उनकी हुकूमत में ही रहना है तो क्यों न उनसे ज्यादा से ज्यादा रियायतें हासिल की जायँ और उनके दिल में यह बात बैठा दी जाय कि मुसलमान कौम अब अंगरेजों की उतनी ही वफादार है जितनी हिन्दुस्तान की दूसरी कौमों में। इसलिए मुसलमान नौजवानों को भी तालीम और नौकरियों में दूसरी कौमों की तरह हिस्सा मिलना चाहिये।

ऐसा खयाल रखने वालों में कुछ ऐसी बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भी थीं जो अपने ऊँचे चाल चलन और काबिलियत की वजह से मुसलमानों पर बहुत असर रखती थीं। इस खयाल के लोगों में सबसे बड़ी हस्ती सर सय्यद अहमद खाँ साहब की थी, जो मौलाना ममलूक अली के शगिर्द होने की वजह से मौलाना कासिम साहब के गुरु भाई होते थे। सर सय्यद अहमद साहब सन् १८५७ के इनकलाब से पहिले ही अंगरेजों की नौकरी में आ चुके थे और अंगरेजों के रहन-सहन व उनके काम करने के ढंग का उन पर गहरा असर पड़ा था। सन् ५७ के इनकलाब के बाद अंगरेजों ने दिल्ली में जो कत्ले आम किया था, उसमें सर सय्यद अहमद साहब के एक सगे चचा मारे गए थे और उनकी बूढ़ी माँ को एक नौकर के घर में छिप कर जान बचानी पड़ी थी। जैसा कि सभी जानते हैं, सर सय्यद अहमद साहब ने ग़दर के वक्त अपनी जान खतरे में डालकर भी कई

अंगरेजों की जान बचाई थी। इसलिये जब अंगरेजी फौजों के जरिये अपने खानदान की इस बरबादी का हाल उन्होंने सुना, तो इसका असर उन पर पड़ना लाजमी था। उस ज़माने में उनकी लिखी मशहूर किताब 'असबाबे बगावत' में हम इस असर को आसानी से महसूस कर सकते हैं। लेकिन जल्द ही वह दूसरे खयालों में बह चले। उस वक्त सरकारी नौकरियों से मुसलमानों को अलग रखने की अंगरेजों की पालिसी ने उनके दिल पर गहरा असर डाला और उन्होंने महसूस किया कि इस तरह हिन्दुस्तान के मुसलमानों को गहरा धक्का लगेगा और वह तालीम व दूसरी चीजों में हिन्दुस्तान की दूसरी कौमों से बुरी तरह पिछड़ जावेंगे। इससे बचने का उन्हें सिर्फ एक ही रास्ता सूझा कि मुसलमानों के दिलों से अंगरेजों और अंगरेजी तहजीब के लिये जो नफ़रत है वह निकाल दी जाय और अंगरेजों के दिल से भी मुसलमानों के बागी होने का खयाल मिटा दिया जाय।

सर सय्यद अहमद साहब अपने अक़ीदे के सच्चे, मेहनती और कौम की सच्ची भलाई चाहने वाले थे। उनके दिल में अपनी कौम के लिये उतना ही दर्द और उसकी तरक्की के लिये कुर्बानी करने का वैसा ही जज़्बा था, जैसा मौलाना कासिम साहब के दिल में था। दोनों एक ही उस्ताद के शागिर्द थे। फिर भी दोनों का रास्ता न सिर्फ एक दूसरे से अलग बल्कि एक दूसरे के खिलाफ़ था। एक को अंगरेजों की हर एक चीज़ में नई रोशनी और ख़ूबी ही ख़ूबी नज़र आती थी, तो दूसरे को अंगरेजों की छाया से भी नफ़रत थी। एक अंगरेजों की वफ़ादारी में ही कौम और मुल्क की तरक्की देखता था, तो दूसरे के लिये अंगरेजों को मुख़ालफ़त न करना अपने ईमान को धोका देना था। यह इस बात की जीती जागती मिसाल है कि कभी कभी एक ही मक़सद होते हुए भी दो निहायत सच्चे और निहायत क़ाबिल इनसानों में भी कितना गहरा फ़रक़ और विरोध हो सकता है।

इस तरह मुहम्मद कासिम साहब के सामने दूसरी बड़ी मुश्किल यह थी कि सन् ५७ के इनकलाब की नाकामयाबी की वजह से पस्तहिम्मत मुसलमानों में अंगरेजों के लिये वफादारी रखने और उनकी तहजीब को अपनाने का प्रचार जारी हो चुका था। इस प्रचार में अंगरेज हर तरह से भारी मदद दे रहे थे। दूसरी तरफ एक के बाद दूसरी साजिशों के मुकदमे चला कर अंगरेज सरकार मुसलमान मौलवियों और आलिमों को लम्बी लम्बी सजाएँ देकर काले पानी भेज रही थी। ऐसी हालत में मौलाना मुहम्मद कासिम साहब के सामने यह सवाल पेश था कि इन चीजों का मुकाबला किस तरह किया जावे और मुसलमानों को वलीउल्लाही जमात के भंडे के नीचे लाकर उनमें आजादी के खयालात कैसे पैदा किये जायँ ?

कुछ दिनों बाद जब हेजाज से हाजी इमदादुल्ला साहब ने किसी मामूली सी जगह पर एक मजहबी मदरसा कायम करने की स्कीम मौलाना कासिम साहब को भेजी, तो उनको अंधेरे में थोड़ी रोशनी नज़र आई और सन् १८५७ के इनकलाब के बिल्कुल १० बरस बाद यानी सन् १८६७ में अरबी तारीख १५ मुहर्रम १२८३ हिजरी को सहारनपुर से २२ मील दूर देवबन्द जैसे एक निहायत मामूली कस्बे में उन्होंने 'दासल-अलूम' (इल्म का घर) के नाम से एक मजहबी मदरसा कायम कर दिया। इस मदरसे का कायम करने में मौलाना कासिम साहब के अलावा उनके पुराने साथी हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही का, जो ग़दर में हिस्सा लेने के जुर्म में फाँसी पाते पाते बचे थे, खास हाथ था। उनके अलावा मौलाना महताब अली साहब और उनके भाई मौलाना जुलफिकार अली साहब ने भी इस काम में पूरी मदद की थी।

मौलाना कासिम साहब ने जब यह मदरसा कायम किया, तब न उनके पास पैसा था और न कोई पैसे वाला मददगार ही था। आम

लोगों का हाल यह था कि वह उनसे बातें करते भी डरते थे, फिर मदद कौन करता ? मदरसे के सब से पहिले तालिबइल्म मौलाना महमूदुलहसन थे, जो आगे चल कर मौलाना कासिम साहब के सच्चे जानशीन, और वलीउल्लाही जमात के छूटे इमाम बने ।

शुरू में दरस्तों के साये में पढ़ाई शुरू हुई । उस वक्त कौन यह जानता था कि यह जो दो चार लड़के एक बूढ़े से मौलवी के आगे बैठे हुए कलामे पाक को हिल हिलकर पढ़ रहे हैं और यह मदरसा जिसमें धूप और बारिश से बचाव के लिये एक छत तक नहीं है, कुछ बरसों के बाद ही मुल्क की आजादी के सिपाहियों की एक खास छावनी और न सिर्फ हिन्दुस्तान बल्कि दुनिया भर के इस्लामी मदरसों में एक खास मदरसा बन जावेगा ।

इसके कुछ दिन बाद ही सर सय्यद अहमद साहब ने अलीगढ़ में मुसलिम नौजवानों को अंगरेजी तालीम देने के लिये एक कालेज खोलना तय किया । उसमें पढ़ाने के लिये विलायत से अंगरेज प्रोफेसर बुलवाए गए । सर सय्यद अहमद साहब की इत्वाहिश थी कि कालेज की इस तहरीक में मौलाना कासिम साहब भी शरीक हो जायँ मगर कासिम साहब ने इसमें शरीक होने से इन्कार कर दिया । इस बारे में सर सय्यद अहमद साहब और उनके साथियों व मौलाना कासिम साहब में जो लम्बी खतकिताबत चली, वह 'तस्फीयतुल अक्कायद' के नाम से एक किताब की शकल में निकल चुकी है । उस किताब से यह मालूम होता है कि मौलाना कासिम साहब उस ज़माने में भी, जब कि किसी मुसलमान मौलवी के लिये अंगरेजों की अमलदारी की नुक्ताचीनी करना भी काले पानी की सज़ा को न्योता देना था, कितनी निडरता से अपने विचार और अक्कीदे को जाहिर कर सकते थे ।

इस ज़माने में मौलाना कासिम साहब और उनके साथियों के खिलाफ़ काफी गलतफ़हमियाँ फैलाई गईं । अंगरेजी सल्तनत की तरफ़

सं इन लोगों को एक अर्से से वहाबी मशहूर तो कर ही दिया गया था, साथ ही साथ इनके रब्बअत पसन्द (प्रतिक्रिया वादी), लकीर, के फ़कीर, मुल्क व क्रौम के दुश्मन और अंगरेजों की सल्तनत के बागी भी करार दिया गया। सच बात यह थी कि सिवा आखिरी इलजाम के बाकी सब बिलकुल बे बुनियाद थे। और आखिरी इलजाम पर तो उनको खुद भी एतराज नहीं था।

मौलाना कासिम साहब इस प्रचार से जरा भी नहीं घबराए। वह जानते थे कि जब कोई क्रौम इस तरह कुचल दी जाती है तब उसके खयालों में बड़ी उलझन पैदा हो जाती है और बहुत बार वह अपनी भलाई चाहने वालों की ही दुश्मन हो जाती है। उन्होंने इन बातों की परवाह न करके चुपचाप अपना काम जारी रखा। इसका नतीजा यह हुआ कि देवचन्द का यह मदरसा जो सिर्फ़ तीन चार तालिबानों से शुरू हुआ था, दिनो दिन तग़्ज़की करता गया और तमाम हिन्दुस्तान व हिन्दुस्तान से बाहर के इस्लामी मुल्कों से भारी तादाद में तालिबानों वहाँ आने लगे। जब इस तरह मदरसे की तरफ़ी होने लगी और उसका असर मुसलमानों पर बढ़ता गया, तो कुछ ऐसे लोग भी, जिनको अभी तक मदरसे के पास आने में भी दहशत होती थी, मदरसे के काम में हाथ बँटाने लगे। उनकी तरफ़ से यह सुझाव भी पेश किया जाने लगा कि अब मदरसे के लिये सरकारी मदद भी हासिल करने की कोशिश की जाय और इस तरह मदरसे की माली हालत मजबूत बना दी जाय।

मौलाना कासिम साहब ने ऐसे लोगों की हमदर्दी और उनके सुझावों के ख़तरों का भट्ट पहिचान लिया। चूँकि मदरसा किसी के ज़ाती इस्लामियार में नहीं था, इसलिए वह मदरसे के काम में किसी को हिस्सा लेने से रोक तो नहीं सकते थे। लेकिन वह यह भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि इस तरह मदरसा सिर्फ़ लड़कों को किताबी तालीम देने वाला एक मदरसा बन कर रह जाय और अपने सच्चे असूलों को भूल जाय। इस ख़तरे से

मदरसे को बचाने के लिये उन्होंने कुछ कायदे बनाये, जो उनके क्रान्ति कारी विचारों को बिलकुल साफ़ जाहिर करते हैं। यह कायदे रिसाला अलकासिम १३४७ हि० के दारुलउलूम नम्बर में शायी हुए थे और उसी से उनका कुछ हिस्सा यहाँ नक़ल किया जाता है—

(१) आज़ादी ज़मीर (विचारों की आज़ादी) के साथ मौके पर कलमतुल हक़ (सच्चाई) का एलान हो। कोई सुनहरी तमग्रों (लालच) और मुग्धियाना दबाव (बड़प्पन का दबाव) या सर परस्ताना मराआत (रक्षा करने वालों की तरफ़ से दी हुई रियायतें) उसमें हायल न हों (रुकावट न डालें)।

(२) इसका ताल्लुक़ आम मुसलमानों के साथ ज़ायद से ज़ायद हो, ताकि यह ताल्लुक़ खुद बख़ुद मुसलमानों में एक नज़्म (संगठन) पैदा कर दे जो उनको इस्लाम और मुसलमानों की शान पर कायम रखने में मुईन (सहायक) हो।

इन दोनों कायदों से यह साफ़ मतलब निकलता है कि मौलाना कासिम साद्व के नज़दीक़ इस मदरसे की सबसे बड़ी अहमियत सिर्फ़ यह थी कि इसके ज़रिये तमाम मुसलमानों में उम्मी तरह से एक संगठन पैदा हो सके जिस तरह शाह वलीउल्लाह ने अपने दिल्ली के मदरसे के ज़रिये पैदा किया था। वह नहीं चाहते थे कि कुछ बड़े बड़े रईस और नवाब अपने पैसे के बल से इस मदरसे पर छा जायँ और उसके असली असूलों को कुचल दें। उनके इस ख़याल का दूसरा सबूत उस वसीयत से मिलता है, जो उन्होंने मरते वक़्त की थी। अपनी इस वसीयत में उन्होंने मदरसे की बाबत लिखा था—

‘इस मदरसे में जब तक आमदनी की सबील (ज़रिया) यक़ीनी नहीं है, तब तक यह मदरसा इन्शाअल्ला (अगर ख़ुदा ने चाहा) इसी तरह चलता रहेगा और अगर कोई आमदनी यक़ीनी ऐसी हासिल हो गई जैसे बागीर या कारख़ाना, तिजारत या किसी अमीर का वादा तो फिर यों

नज़र आता है कि यह ख़ौफ़ और रिज़ा जो सरमायए रुज़ूहल्लाह है (परमात्मा के नाम पर निष्ठावर है) वह हाथ से जाता रहेगा और कार कुनों (काम करने वालों) मेनिजाअ (भगड़ा) पैदा हो जावेगा। अल-किस्सा (सारांश यह है कि) आमदनी और तामीर वग़ैरा में एक नौअ (तरह) की बे सरो सामानी मलहूज रहे (गरीबी का ध्यान रक्खा जाए)।

२—सरकार की शिरकत (शामिल होना) व उमरा (अमीरों) की शिरकत भी ज्यादा मुज़िर (नुकसान पहुँचाने वाली) मालूम होती है।

३—ता मकदूर (जहाँ तक हो सके) ऐसे लोगों का चन्दा ज्यादा मुज़िबे बरकत (बरकत देने वाला) मालूम होता है जिनको अपने चन्दे से उम्मीदे नामवरी न हो (नाम की इच्छा न हो)। बिल जुमला (अख़िर-कार) हुस्नेनीयत अहले चन्दा (चन्दा देने वालों की अच्छी नीयत) ज्यादा पायदारी (मजबूती) का सामान मालूम होती है।

यह वसीयत एक ऐसा क्रांतिकारी दस्तावेज है, जिससे हिन्दुस्तान की अगली पीढ़ियाँ हमेशा एक रोशनी हासिल करती रहेगी। इसके एक एक लपज से यह जाहिर होता है कि मौलाना कासिम साहब कितने बड़े इनक़लाबी और मुल्क की आज़ादी के कितने सच्चे दीवाने थे। उन्हें सिर्फ़ चाह थी तो यह कि किसी तरह उनकी क़ौम फिर से संगठित होकर आज़ादी के मैदान में आ खड़ी हो। सन् १८७८ तक यानी अपनी ज़िन्दगी की आख़िरी घड़ियों तक वह बराबर इसी काम में लगे रहे।

मौलाना कासिम साहब नानौत जिला सहारनपुर के रहने वाले थे। उनके वालिद का नाम मौलाना असद अली था। उन्होंने हाजी इमदादुल्ला साहब और मुफ़्ती सदरुद्दीन साहब से तालीम हासिल की थी। मुफ़्ती सदरुद्दीन अपने ज़माने के एक बहुत बड़े आलिम और वलीउल्लाही जमात के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के शागिर्दों में से थे। मुफ़्ती साहब के एक दूसरे मशहूर शागिर्द मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के पिता शैख़ मुहम्मद ख़ैरुद्दीन साहब थे। इनके अलावा

मौलाना कासिम साहब ने कुछ दिनों तक मौलाना ममलूक अली साहब से भी पढ़ा था ।

वलीउल्लाही जमात के इमामों में मौलाना कासिम साहब इसलिये एक खास अहमियत रखते हैं कि एक तरह से इस संगठन की बुनियाद उनको फिर से जमानी पड़ी और वह भी उस हालत में जब कि जुल्म का तूफान जारी था । वह एक अजीब हिम्मत के आदमी थे जो बिलकुल नाउम्मीदियों के आँधरे में भी रोशनी की कोई न कोई किरन पैदा कर लेते थे । सन् ५७ के बाद नुसलमानों में अंगरेजी अमलदारी के खिलाफ एक संगठन बनाए रखना उनका ही काम था । वह सबसे ऊपर मुल्क की आजादी को जगह देते थे और इसके लिये सब कुछ कुरबान कर सकते थे ।

सन् १८७८ में उनकी मौत के वक्त वलीउल्लाही जमात के संगठन को नींव फिर से काफ़ी जम चुकी थी । इसके लिये अब एक ऐसे आदमी की जरूरत थी जो उनके बाद इस काम को सँभाल ले । मौलाना कासिम साहब की निगाह तो इस सिलसिले में दारुलउलूम के सबसे पहिले विद्यार्थी मौलाना महमूदुलहसन पर थी, जो अपनी तालीम पूरी करके मदरसा देव बन्द में ही मुदर्रिस हो गए थे । लेकिन अभी उनकी उम्र थोड़ी ही थी इसलिये कुछ दिनों के लिये यह बोझ हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही ने सँभाला । रशीद अहमद साहब ऐसे बे धड़क आदमी थे कि जब मौलाना सादुद्दीन साहब काश्मीरी और मौलाना अमानुल्ला साहब ने उनसे हिन्दुस्तान के दारुल हरब होने की बात पूछा, तो उन्होंने यह फतवा दे दिया कि हिन्दुस्तान दारुल हरब है । इसका साफ मतलब यह था कि अंगरेजों से लड़ाई जारी है और हर एक मुसलमान का यह मजहबी फ़र्ज है कि इस लड़ाई में पूरा हिस्सा ले ।

हाजी रशीद अहमद साहब सन् १९०५ तक जिन्दा रहे । उनके बाद मौलाना महमूदुलहसन साहब ने वलीउल्लाही जमात की इमामत का बोझ सँभाला ।

हाजी रशीद अहमद गंगोही

सन् १८७८ ईसवी में वलीउल्लाही जमात के पांचवें इमाम मौलाना मुहम्मद कासिम साहब का इन्तकाल हो जाने पर जब इस संगठन को एक नए नेता की जरूरत हुई तो सब की नजर मौलाना महमूदुल हसन साहब पर पड़ी। मौलाना महमूदुलहसन वलीउल्लाही जमात के नए मरकज मदरसा देवबन्द के पहिले विद्यार्थी थे। वलीउल्लाही संगठन के असूल और इगदों की पूरी पूरी तालीम इनको खास तरीके पर, मौलाना कासिम साहब ने दी थी। इस तालीम की ही बदौलत मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपनी पढ़ाई के जमाने से ही मुल्क की आजादी के लिये तजवीजें सोचना और उन पर काम करना शुरू कर दिया था। अपनी दूरन्देशी, निडरपन और पाक साफ चाल चलन की वजह से अपने हल्के में वह बहुत इज्जत की निगाह से देखे जाते थे, इस लिये उनको इमाम बनाने और मानने में इनकार किस को होता ? लेकिन वह जमाना बहुत नाजुक था। सन् १८५७ की लड़ाई की नाकामयाबी और उसके बाद होने वाले भयानक जुल्मों ने बड़ों बड़ों के हौसले पस्त कर दिये थे। खासकर मुसलमानों में तो लोग सियासत तो क्या मजहबी बातों की चर्चा करने में भी डरते थे। इस हालत से फायदा उठा कर कुछ मौफा परस्तों ने इसलाम के नाम पर नई नई बातों को गढ़ना और फैलाना शुरू कर दिया था, यहाँ तक कि अंगरेज और अंगरेजी राज के लिये वफादारी भी इसलाम के असूलों में शरीक कर ली गई थी।

यह हालत मजबूर करती थी कि इस वक्त वलीउल्लाई जमात की कमान किसी ऐसे आदमी के हाथ में हो, जिसको इस संगठन से बाहर के

भी मुसलमान जानते और मानते हों और जिसकी राय व फैसले की तमाम हिन्दुस्तान के मुसलमानों में वक्रवर्त हो, और साथ ही साथ जिसमें मुल्क की आजादी के लिये सच्ची तड़प हो और जो मुसलमानों में अंगरेजों की बफ़ादारी का प्रचार करने वालों का हिम्मत के साथ मुकाबला कर सके ।

इन तमाम बातों को ध्यान में रख कर फैसला किया गया कि अभी कुछ दिनों तक हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही पर इमामत का यह बोझ डाला जाय । हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही जिला सहारनपुर के रहने वाले थे । उनकी पूरी उम्र ही वलीउल्लाही संगठन के असूलों को समझने और उन पर अमल करने में बीती थी । इसकी वजह यह थी कि गंगोही साहब के वालिद जनाब हिदायतुल्ला साहब अंसारी एक सच्चे और दीनदार मुसलमान थे । वह चाहते थे कि मेरा बेटा बड़ा होकर मुल्क और क़ौम की खिदमत करे । इस लिये उन्होंने गंगोही साहब को बहुत छोटी उम्र में ही पढ़ने के लिये देहली भेज दिया था, जहाँ वह वलीउल्लाही संगठन के एक खास नेता मौलाना ममलूकअली साहब से पढ़ते थे और मजहबी तालीम के साथ-साथ उस ज़माने की सियासत और अंगरेजों की राजकाजी चालबाजियों को भी समझने की कोशिश करते थे । इसी ज़माने में उनकी जान पहचान मौलाना मुहम्मद कासिम साहब से हुई, जो इसी मदरसे में पढ़ते थे और रशीद अहमद साहब की ही तरह अपने तेज़ ज़ेहन के लिये मदरसे भर में मशहूर थे ।

इस मदरसे की तालीम का रशीद अहमद साहब और मौलाना कासिम साहब पर बहुत गहरा असर पड़ा और पढ़ाई से फ़ारिग होने से पहिले ही दोनों ने मुल्क की आजादी के लिये काम करना शुरू कर दिया । इस ज़माने में दिल्ली का यह मदरसा मुल्क भर के इनक़लाबियों का एक खास मरकज़ बना हुआ था । इनक़लाबियों के सबसे बड़े नेता

हाजी इमदादुल्ला साहब थे, जो रशीद अहमद साहब व मौलाना क़ासिम साहब के भी उस्ताद रह चुके थे। हाजी इमदादुल्ला साहब चाहते थे कि वलीउल्लाही संगठन को जल्दी से जल्दी अगरेजों के खिलाफ़ जंग का ऐलान कर देना चाहिये। इसके लिये उन्होंने एक जंगी कमेटी भी बना ली थी, जिसमें हाजी इमदादुल्ला साहब के अलावा मौलाना अब्दुलगनी, मौलाना मुहम्मद याक़ूब, रशीद अहमद साहब और मौलाना क़ासिम साहब भी थे। कुछ दिनों के बाद जब हाजी इमदादुल्ला साहब को वालीउल्लाही जमात का चौथा इमाम चुना गया, तो यही चार आदमी उनके वज़ीर मुकर्रर किये गए। इससे जाहिर होता है कि क़ासिम साहब की तरह हाजी रशीद अहमद साहब ने भी कितनी जल्दी वलीउल्लाही संगठन में अपने लिये यकीन पैदा कर लिया था।

इसके बाद कुछ दिनों तक रशीद अहमद साहब जगह-जगह घूम कर आम जनता में बेदारी पैदा करते रहे। उनको मजहबी बातों की बड़ी गहरी जानकारी थी। हदीस में तो उनका लोहा बड़े बड़े आलिम भी मानते थे। उनकी अमली जिन्दगी भी बड़ी پاک साफ़ थी। निहायत सादगी का रहन-सहन, सबसे मीठा बर्ताव, गरीब व अमीर सबको एक नज़र से देखना और मुल्क के काम से जो वक्त बचे उसे खुदा की याद में लगाना, यह सब ऐसी बातें थीं जो उनकी जान पहिचान में आने वाले हर एक इन्सान पर गहरा असर डालती थीं। इसी से जब वह मुल्क क दुख दर्द बयान करते थे तो सुनने वालों पर पूरा पूरा असर पड़ता था और उनके दिलों में आज़ादी के लिये कुछ करने की खाहिश पैदा होने लगती थी। इस तरह रशीद अहमद साहब ने अपने प्रचार से हजारों आदमियों को आज़ादी की लड़ाई का सिपाही बना दिया।

धीरे धीरे सन् १८५७ में वह ज़माना भी आ गया, जिसका इतने दिनों से इन्तज़ार किया जा रहा था। लेकिन वलीउल्लाही संगठन में ह. व.क्त कुछ ऐसे लोग भी थे, जो इस इनक़लाब में हिस्सा लेने

खिलाफ़ थे। उनकी दलील यह थी कि वह इनक़लाब उन लोगों की तरफ़ से शुरू किया गया है जो मुल्क में किसी एक आदमी की बादशाहत चाहते हैं, जब कि शाहवलीउल्ला साहब प्रजातंत्र यानी जमहूरियत की हुकूमत चाहते थे, इसलिये इस लड़ाई में हिस्सा लेना अपने असूलों से गिरना है।

इस दलील के खिलाफ़ हाजी इमदादुल्ला साहब का यह कहना था कि हम जमहूरियत के आज भी हामी हैं और हमेशा रहेंगे, लेकिन अंगरेजों को मुल्क से बाहर निकालने के लिये हमें इस इनक़लाब में पूरी ताक़त से हिस्सा लेना चाहिये। क्यों कि जब तक अंगरेज यहाँ पर मौजूद हैं, तब तक न यहाँ जमहूरियत ही कायम हो सकती है और न शाहवलीउल्ला साहब के दूसरे असूलों को ही अमल में लाया जा सकता है,

एतराज करने वालों को हाजी इमदादुल्ला साहब के इस जवाब से तसल्ली नहीं हुई, क्यों कि उनमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जो लड़ाई की मुसीबतों सहने के लिये तैयार नहीं थे। इन लोगों ने इस दलील के ब्रह्माने उन मुसीबतों से अपना बचाव कर लिया और वलीउल्लाही संगठन से अलग हो गए। हाजी रशीद अहमद साहब भी चाहते तो इस वक्त अपना बचाव कर सकते थे, लेकिन वह अपने दाँत और साथी मौलाना कासिम साहब की तरह अपनी जगह पर अडिग रहे और उन्होंने आज़ादी की इस लड़ाई में अमली हिस्सा लेना शुरू कर दिया। अपने उस्ताद और इमाम हाजी इमदादुल्ला साहब के साथ वह भी शामिली के मोर्चे पर अंगरेजी फ़ौजों के दाँत खट्टे करते रहे, और तब तक लड़ते रहे, जब तक कि वह लड़ाई में घायल हो जाने की वजह से पकड़ नहीं लिये गए।

जेलख़ाने में रशीद अहमद साहब को बड़ी बड़ी सज़ा तकलीफ़ें सहनी पड़ीं। उस वक्त लड़ाई में हजारों कैदी अंगरेजों के पास थे, जिनके खाने पीने का इन्तज़ाम उस वक्त की हालत में न तो हो ही सकता था, और न अंगरेजों को उसकी परवाह ही थी।

इन कैदियों के मुकदमे बड़ी जल्दी जल्दी निबटाए जा रहे थे । ज्यादातर लोगों को फाँसी पर चढ़ा कर ठिकाने लगाया जा रहा था । रशीद अहमद साहब भी इस बात को जानते थे कि मुझे फाँसी की ही सजा मिलेगी । क्यों कि उनके जिस्म पर गोली का निशान इस बात का साफ़ सबूत था कि उन्होंने इस जंग में हिस्सा लिया है । फिर भी न उनको कोई फ़िक्र थी और न कोई अफ़सोस । उन्होंने तो जिस दिन इस राह में क़दम रक्खा था, उसी दिन इस नतीजे को जान लिया था । अफ़सोस तो उनको सिर्फ़ यह था कि आजादी की वह लड़ाई हिन्दुस्तानियों की आपसी फूट की वजह से कामयाब न हो सकी और फ़िक्र भी उनको सिर्फ़ यह थी कि किसी तरह वलीउल्लाही संगठन के कुछ ऐसे खास नेता अंगरेजों के पंजों से बच जायँ, जो इसके बाद भी वलीउल्लाही तहरीक को चलाते रहें और आजादी के झंडे को ऊँचा उठाये रखे ।

कहा जाता है कि मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है । खुशकिस्मती से रशीद अहमद साहब के साथ भी यही हुआ । उनके मुकदमे का नम्बर आने से पहले ही आम माफ़ी का ऐलान हो गया । इस ऐलान के मुताबिक रशीद अहमद साहब भी रिहा हुए । जेल से निकलते ही उन्होंने फिर अपना पुराना काम शुरू कर दिया । सबसे पहले उन्होंने यह पता लगाया कि वलीउल्लाही संगठन के कौन कौन से नेता फाँसी के तख़्ते की नज़र हो गए और कौन कौन से बच सके हैं । उनको यह जान कर बहुत खुशी हुई कि संगठन के सब से बड़े नेता हाजी इमदादुल्ला साहब सही सलामत मक्का पहुँच गए हैं और मौलाना कासिम साहब भी पकड़े नहीं जा सके हैं ।

इसके बाद हाजी रशीद अहमद साहब फौरन मौलाना कासिम साहब से मिले और इस बात पर ग़ौर करना शुरू किया कि अब फिर से आजादी की लड़ाई किस तरह शुरू की जाय । कुछ ही दिनों में वह हाजी इमदादुल्ला साहब से भी ख़तो क़िताबत करने में सफल हो गए और अब

वहाँ से बाकायदा सलाह मशविरा मिलने लगा । इसी सलाह के मुताबिक वलीउल्लाही संगठन फिर से कायम किया गया और उसके सबसे बड़े नेता मौलाना कासिम साहब चुने गए । इसके बाद सन् १८६७ में देव बन्द का मदरसा भी कायम कर दिया गया । उस वक्त यह मदरसा कायम कर लेना भी कोई आसान काम नहीं था । और खास तौर पर किसी ऐसे आदमी का तो इस तरह के कामों में हिस्सा लेना बहुत ही खतरनाक था जो बग़ावत के इलजाम में गिरफ्तार हो चुका हो । लेकिन रशीद अहमद साहब ने कभी इन बातों की परवाह नहीं की और निहायत निडरता से इन तमाम कामों में आगे बढ़ कर हिस्सा लेते रहे ।

देवबन्द का मदरसा कायम हो जाने के बाद जब कुछ लोगों ने यह कोशिश की कि देवबन्द का मदरसा अंगरेजी सरकार से कुछ रुपये पैसे की मदद माँगे, तो मौलाना कासिम साहब के साथ साथ रशीद अहमद साहब ने भी इस बात की सख्त मुखालफ़त की । रशीद अहमद साहब तो देवबन्द के मदरसे को आज़ादी के सिपाहियों की एक खालिस छावनी की शकल में देखना चाहते थे । इसी लिये एक बार उन्होंने यह भी राय ज़ाहिर की थी कि मदरसा देवबन्द में फलसफ़े की तालीम देने की कोई ज़रूरत नहीं है । यानी वह चाहते थे कि नौजवानों को सिर्फ़ वही बातें पढ़ाई जावें जो उनमें कैरेक्टर और मज़हब व वतन की मुहब्बत पैदा करने के लिये ज़रूरी हों । वह सिपाही चाहते थे आलिम या पंडित नहीं । मतलब यह कि वलीउल्लाही संगठन में भी अपने ज़माने में वह गरम दल के लोगों में से थे ।

सन् १८७८ ईसवी में अपने बचपन के साथी मौलाना कासिम साहब का इन्तक़ाल हो जाने से रशीद अहमद साहब को बहुत गहरा धक्का लगा । दोनों ही एक दूसरे को भाई की तरह प्यार करते थे और मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में दोनों ने साथ साथ हिस्सा लिया था । दोनों के दिलों में एक दूसरे के लिये यक़ीन और इज़्ज़त

था और खास तौर पर रशीद अहमद साहब तो कासिम साहब को अपना नेता भी मानते थे, और उन पर और मामूली भरोसा रखते थे। इसलिये कासिम साहब के इन्तकाल की खबर पाते ही रशीद अहमद साहब ने एक ठंडी साँस लेकर कहा था—“सालार काफ़ला चल बसा, जो किसी दिन खुद भी शहीद होता और हमको भी कुरबान कराता।”

रशीद अहमद साहब के इन लफ़्जों में उनकी आँखों के न जाने कितने सपने बोल रहे थे।

मौलाना कासिम साहब के इन्तकाल के बाद रशीद अहमद साहब से जब इमामत का बोझ संभालने को कहा गया, तो वह इनकार न कर सके। इन दिनों वह गंगोह में रहते थे और कभी कभी देवबन्द आकर मदरसे के विद्यार्थियों को दर्स (पाठ) दे जाया करते थे, या जो विद्यार्थी मदरसे की पढ़ाई से फ़ारिग होकर गंगोह पहुँचते थे, उनके पढ़ा दिया करते थे। इस तरह से उन्होंने करीब तीन सौ विद्यार्थियों को तालीम दी, जिनमें से कुछ ने आगे चल कर हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। ऐसे लोगों में वलीउल्लाही जमात के छोटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब, मशहूर क्रान्तिकारी मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी मौजूदा ज़माने में जमय्यन के बहुत बड़े लीडर मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी का नाम मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है।

रशीद अहमद साहब की सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि किसी तरह हिन्दुस्तान के मुसलमान अंगरेजों की चालबाजियों से बचे रहें और हिन्दुस्तान में आज़ादी की लड़ाई में सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लें। इसी वजह से उनके ऐसे लोगों से बड़ी चिढ़ थी, जो अंगरेजी राज की वफ़ादारी का मुसलमानों में प्रचार करते

थे, या ऐसे लोगों की राह में रोड़े अटकते थे जो अंगरेजों की मुखालफ़त करते थे। बदकिस्मती से ऐसे लोगों में सर सय्यद अहमद साहब भी थे, जिनकी शानदार शस्त्रियत के आगे बड़े बड़े सर झुकते थे। लेकिन हाजी रशीद अहमद साहब से उनकी कभी न पट सकी। यहीं तक नहीं, बल्कि कुछ बरसों के बाद कांग्रेस की मुखालफ़त करने के लिये जब सर सैयद साहब ने 'अंजुमने इस्लामिया' कायम की और मुसलमानों को कांग्रेस से निकल कर उसमें शरीक होने की दावत दी, तो हाजी साहब ने एक फ़तवा देकर यह एलान किया था कि मुसलमानों को कांग्रेस में शरीक होना चाहिये, अंजुमने इस्लामिया में नहीं। यहां पर यह बात भी साफ़ कर देना ज़रूरी है कि न तो हाजी रशीद अहमद साहब खुद कांग्रेस में शरीक थे और न उस वक्त की कांग्रेस का प्रोग्राम उन जैसे गरम दिल के देश भक्त को पसन्द ही आ सकता था। फिर भी इतना तो साफ़ था ही कि कांग्रेस अंगरेजों से हिन्दुस्तानियों को कुछ हक़ दिलवाना चाहती थी। सर सय्यद अहमद साहब और उनके साथी इस बात को भी नापसन्द करते थे और सिर्फ़ इस बात का प्रचार करते थे कि मुसलमानों को अपने हर एक काम से यह जाहिर करना चाहिये कि वह अंगरेजी राज के पूरे पूरे वफ़ादार हैं। यही वजह थी कि हाजी रशीद अहमद साहब ने कांग्रेस की हिमायत करना ज़रूरी समझा।

इसके कुछ दिन बाद जब मौलाना सादुद्दीन साहब काश्मीरी और मौलाना अमानुल्ला साहब ने हाजी साहब से हिन्दुस्तान के 'दारुल हरब' होने या न होने की बाबत फैसला मांगा, तो हाजी साहब ने हमेशा याद रखने के क़ाबिल बहादुरी और हिम्मत के साथ यह फ़तवा दिया कि हिन्दुस्तान 'दारुल हरब' है। इस फ़तवे का कुछ हिस्सा इस तरह से था—

“अकनू हाले हिन्द रा खुद गौर कर्मायन्द कि इजराये अहकाम कुफ़्फ़ार नसारा दर्रीजा बचे कुव्वत व गल्बा हस्त । अगर अदना कलकटर हुक्म कर्द कि दर मसजिद जमात अदा न कुनेद, हेच मर्द अज अमीरो गरीब कुदरत नदारद कि अदाये आँ नमायद ।

× × बहर हाल तसल्लुते कुफ़्फ़ार बर हिन्द दर्रीजा अस्त कि दर हेच वक्त कुफ़्फ़ार रा बर दरे हरब ज्यादा अर्जी नबूद । व अदाये मरासिमे इसलाम अज मुसल्मानान । महज ब इजाजत ईशानस्त व अज मुसलमान अजीज तरीन रियाया कसे नेस्त ।”

यानी “अब हिन्दुस्तान की हालत पर आप खुद गौर करें कि इस मुल्क में ईसाई काफ़िरों के क़ानून इतनी ताक़त रखते हैं कि अगर एक अदना सा कलकटर भी यह हुक्म कर दे कि मसजिदों में इफ़्ते होकर नमाज़ न पढ़ी जाय, तो फिर किसी अमीर गरीब की यह हिम्मत नहीं पड़ सकती कि वह मसजिद में नमाज़ पढ़ सके ।

× × बहर हाल हिन्दुस्तान पर काफ़िरों का इख़तियार इस दरजे तक बढ़ा हुआ है कि किसी वक्त भी किसी ‘दारुज़ हरब’ पर इससे ज्यादा काफ़िरों का इख़तियार नहीं होता । यहाँ पर जो अपने मज़हबी काम मुसलमान करने हैं, वह सिर्फ़ काफ़िरों की इजाजत से । मुसलमान यहाँ की सब से ज्यादा दुखी रियाया हैं ।”

यह फ़तवा हाजी रशीद अहमद साहब ने उस ज़माने में दिया था, जब स्वराज का नाम लेने पर लोगों को लम्बी ‘लम्बी सज़ायें’ दी जाती थीं और कुछ नौजवानों को सिर्फ़ इसलिये काले पानी की सज़ा दी गई थी कि उनकी लिखी नज़्मों से मुल्क को आज़ाद करने का ज़ज्बा उभरता था ।

इस तरह हाजी रशीद अहमद साहब हमेशा यह कोशिश करते रहे कि हिन्दुस्तान के मुसलमान आज़ादी की लड़ाई में पूरे तौर से हिस्सा

लेते रहें और इसके लिये अगर ग़ैर मुसलमानों को भी साथ लेना पड़े, तो उनके भी बिना किसी हिचक के साथ में लें। वह सन् १८५७ जैसी फ़िज़ों एक बार फिर मुल्क में देखना चाहते थे। अंग्रेज़ों का हिन्दुस्तान में रहना हर वक्त उनके दिल में काँटे की तरह चुभता रहता था। उनकी खाहिश थी कि वह मुल्क की आज़ादी के लिये लड़ते हुए ही शहीद हों। जब भी कोई ऐमा मौका आया, उन्होंने कभी अपना पांव पीछे न हटाया, अपने हर एक शागिर्द और मुरीद को भी वह यही तालीम देते थे। जब वह अपने कुछ खास शागिर्दों को इस मैदान में काम करते देखते थे, तो उनके बड़ी तसल्ली और खुशी होती थी।

हाजी रशीद अहमद साहब का इन्तक़ाल ११ अगस्त सन् १६०५ ईसवी दिन शुक्रवार को करीब ८६ बरस की उम्र में हुआ। उस वक्त तक हिन्दुस्तान में एक नई लहर पैदा हो चुकी थी और तिलक जैसे नेता निहायत साफ़ साफ़ लफ़्ज़ों में हिन्दुस्तान की आज़ादी की मांग कर रहे थे, जिसके असर में आकर बहुत से नौजवानों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ हथियारों का भी इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। इस जुर्म में अंग्रेज़ सरकार बहुत से नौजवानों को फाँसी पर भी चढ़ा चुकी थी। लेकिन यह आग बढ़ती ही जा रही थी। इस वक्त तक बलीउल्लाही संगठन भी काफ़ी मजबूत हो चुका था और हाजी रशीद अहमद साहब के खास मुरीद मौलाना महमूदुल हसन साहब की लीडरशिप में हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ लड़ाई शुरू कर देने की बाफ़ी ज़ोरदार तय्यारियाँ कर रहा था।

इस तरह हाजी रशीद अहमद साहब को अपनी ज़िन्दगी में ही अपने एगिशन की कामयाबी देखना नसीब हो गया था और मरते वक्त जनको यह पूरा इतमीनान था कि अब हिन्दुस्तान ज़्यादा दिनों तक गुलाम नहीं रक्खा जा सकेगा।

मौलाना महमूदुल हसन

वलीउल्लाही जमात के छूटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब ने जमात की बागडोर पूरी तरह तो सन् १९०५ में हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही के मरने के बाद अपने हाथ में ली, पर इस तहरीक में काम करना उन्होंने मौलाना कासिम साहब के सामने शुरू कर दिया था और उनके काम को देखकर मौलाना कासिम साहब को यकीन हो गया था कि वलीउल्लाही तहरीक मौलाना महमूदुल हसन साहब की लीडरी में अच्छी तरह फल-फूल सकेगी।

मौलाना महमूदुल हसन साहब की पैदायश १२६७ हि० में देवबन्द में हुई थी। उनके बाप मौलाना जुलफिकार अली खां और ताऊ मौलाना महताब अली साहब वलीउल्लाही तहरीक के पुराने मददगार थे और उन इने गिने आदमियों में से थे जिनकी मदद से ही सन् १८६७ ई० के उस ज़माने में मौलाना कासिम साहब उस मदरसे को कायम करने में कामयाब हो सके थे। मदरसे के सबसे पहले विद्यार्थी भी मौलाना महमूदुल हसन ही थे। कुछ ही दिनों में मौलाना कासिम साहब ने अपने इस ग़ैर मामूली शागिर्द की छिपी ताकत को पहचान लिया और मज़हबी तालीम के साथ साथ जमात के असली असूल और उसके मक़सद भी उन्हें समझा दिये। कितनी ही रातें मौलाना महमूदुल हसन साहब ने उस कहानी को सुनने में बितादीं जिसकी एक-एक घटना शहीदों के खून के ज़िक्र से गूँज रही थी। इस तरह बचपन में ही उनके दिल में मुल्क की आज़ादी की लगन पैदा हो गई और उन्होंने यह ठान लिया कि वह अपनी ज़िन्दगी का एक एक पल इसी काम में बिताएंगे।

६ जनवरी सन् १८७४ को देवबन्द मदरसे के जिन पाँच विद्यार्थियों के सर पर फ़ज़ीलत की पगड़ी बँधी यानी जिन्हें डिगिरियों मिलीं, उनमें एक वह भी थे। इसके बाद उन्होंने मदरसे में ही बिना तनखाह पढ़ाना शुरू कर दिया। सन् १८७५ में सिर्फ़ पच्चीस रुपये माहवार पर वह मदरसे के चौथे मुदरिस हुए और उन्होंने देवबन्द के विद्यार्थियों में अपना काम शुरू कर दिया।

सन् १८७८ में उनके उस्ताद मौलाना क़ासिम साहब अचानक चल बसे। इसका उन पर गहरा असर हुआ। मौलाना क़ासिम साहब उनको अपने बेटे की तरह प्यार करते थे। इसके एक साल बाद उन्होंने देवबन्द के कुछ उस्तादों और तालिबइल्मों को मिलाकर 'समरतुल तर्बियत' के नाम से एक नए संगठन की नींव डाली। खुशकिस्मती से वलीउल्लाही ज़प्पात के चौथे इमाम हाजी इमदादुल्ला उस वक्त तक मक्का में ज़िन्दा थे। मौलाना महमूदुल हसन हज्ज के बहाने उनके पास मक्का गए और उनसे अपने प्रोग्राम की बाबत हिदायतें हासिल कीं। इसके बाद मौलाना हिन्दुस्तान वापस आ गए।

उस वक्त हिन्दुस्तान में फिर एक नई राजकाजी हलचल नज़र आने लगी थी। ब्रिटिश हुकूमत भी उसे मिटा देने के लिये पर्दे की ओट से आए दिन एक नई चाल चल रही थी। हुकूमत को सबसे बड़ी बबराहट यह थी कि आज़ादी की जो लगन अभी तक मुसलमानों में ही झोर पर थी, वह अब हिन्दुओं में भी फैलती जा रही थी। यह लार्ड स्लिटन का ज़माना था, जिससे ज़्यादा तंगनज़र और हिन्दुस्तान के भले बुरे को न सोचने वाला वायसराय अब तक शायद कोई दूसरा नहीं आया। उसी ज़माने में दक्खिन का वह मशहूर अकाल पड़ा, जिसमें पचास लाख से ज़्यादा हिन्दुस्तानी मक्खियों की तरह मर गए। लार्ड स्लिटन पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने एक तरफ़ तो अफ़्ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर दी और दूसरी तरफ़ दिल्ली में एक शानदार

दरबार करने का सरंजाम शुरू कर दिया। भूकों मरते हिन्दुस्तानियों के ज़ल्मों पर यह नमक छिड़कना था। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ दक्खिन में और दूसरी तरफ़ पंजाब में अंगरेजी हुकूमत के खिलाफ़ लोग उठ खड़े हुए। यह तहरीकें जल्द ही दबा दी गईं, लेकिन इस बात का सबूत दे गईं कि सन् १८५७ के बाद भी हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे लोग हैं जो ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ हथियार लेकर खड़े हो सकते हैं।

हुकूमत ने इस जोश को दबाने के लिये एक तरफ़ कौंसिलें कायम करके कुछ मामूली से हक़ हिन्दुस्तानियों को दिये तो दूसरी तरफ़ प्रेस एक्ट और हथियार छीनने का कानून बना कर लोगों को दबाना शुरू किया। इसके साथ ही एक तीसरी चाल फूट डालने की थी, जो पहली दोनों चालों से भी ज्यादा कामयाब रही और आज तक जारी है। बुरा यह हुआ कि मुल्क के कुछ बड़े बड़े समझदार और असर वाले लोग भी हुकूमत के इस जाल में फँस गए, और फँसते रहे और मुल्क की आज़ादी के उस नन्हे से पौदे को, जिसे एक तरफ़ देवचन्द की जमात और दूसरी तरफ़ दक्खिन, बंगाल व पंजाब में उठती हुई उमंगें सींच रही थीं, नुक़सान पहुँचाते रहे।

मौलाना महमूदुल हसन इन हालतों में भी बराबर अपने काम में लगे रहे और 'समरतुल तर्बियत' के संगठन को मजबूत करने की कोशिश करते रहे, पर वह कोशिश कुछ फल न ला सकी। इसके बाद अपने थोड़े से चुने हुए साथियों के सहारे वह अपने काम में लगे रहे। उस वक़्त उनका खयाल था कि चूँकि हिन्दुस्तानियों से हथियार छीन लिये गये हैं इस लिये जब तक कोई ग़ैर मुल्की हुकूमत हमारी मदद पर न हो तब तक आज़ादी की जंग शुरू नहीं की जा सकती। इसके लिये उनकी नज़र काबुल पर गई। हिन्दुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान की हदें मिली

होते, की वजह से वहीं से मदद मिलना सबसे ज्यादा आसान था। इसके साथ ही हिन्दुस्तान की सरहद पर बसे हुए आज़ाद कबीलों की मदद हासिल करने का खयाल भी उनके दिल में उठा, क्योंकि वहीं वली-उल्लाही जमात की वह दूसरी शाख, जो सन् १८२४ में सय्यद अहमद बरेलवी के साथ हिन्दुस्तान से हिजरत करके सरहद पर चली गई थी, अभी तक अपना काम कर रही थी। मौलाना महमूदुल हसन ने मदरसा देवबन्द के उन तालिम इल्मों के सहारे, जो आज़ाद कबीलों से आए थे, अपना ताल्लुक वहीं से कायम किया और वह उसमें कामयाब हुए। आज़ाद कबीलों के इलाके के एक बड़े असर वाले सरदार तुरंगजई के हाजी साहब से उनकी पुरानी जान पहचान थी। नतीजा यह हुआ कि सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई में हाजी इमशदुल्ला साहब आज़ाद कबीलों की मदद लेने और वलीउल्लाही जमात की इन दोनों शाखों को मिलाने की जिस कोशिश में नाकामयाब हुए थे, जमाने की जरूरतों से मौलाना महमूदुल हसन अब उसमें कामयाब हुए। अब इन आज़ाद कबीलों के दूत और आदमी बराबर उनके पास आने जाने लगे।

अफ़ग़ानिस्तान में उस वक्त अमीर हबीबुल्ला का राज था। मौलाना ने फ़ौरन ही उनसे और उनके कुछ बड़े बड़े सरदारों और भाइयों से लिखा पढ़ी शुरू की। इन भाइयों में ख़ास शाहज़ादा नसरुल्ला ख़ाँ थे, जिन्होंने सन् १८६८ में इंगलिस्तान जाकर वहाँ की पार्लिमेन्ट के मेम्बरों और ब्रिटिश सरकार के अफ़सरों से बड़े जोर के साथ कहा था कि अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत में अंगरेजों का जो दख़ल है वह फ़ौरन उठा लिया जाय। उनकी बात उस वक्त नहीं सुनी गई, जिससे उन्होंने अंग्रेजों की मुख़ालफ़त में 'जमीय्यते सियासिया' के नाम से अफ़ग़ानिस्तान में एक संगठन बनाना शुरू कर दिया। मौलाना महमूदुल हसन ने इस 'जमीय्यत' से भी अपना सम्बन्ध कायम कर लिया था और उनके कुछ ख़ास अफ़ग़ान शार्गिद उसमें बढ़ कर हिस्सा ले रहे थे।

इसके बाद उन्होंने फिर हिन्दुस्तान में अपने संगठन को मजबूत करने की तरफ ध्यान दिया। इस वक्त तक हिन्दुस्तानियों के दिलों में अंग्रेजों और अंग्रेजी राज का उतना डर नहीं रह गया था। साथ ही मौलाना महमूदुल हसन को मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी व मौलाना कासिम साहब के घेवते मुहम्मद मियाँ अन्सारी जैसे शागिर्द भी मिल गए थे। मौलाना की सादा और मेहनत की जिन्दगी, सचाई और खुदा परस्ती ने काफ़ी असर पैदा कर लिया था और डाक्टर मुख्तार अहमद अन्सारी जैसे लोग उनके मुरीद बन चुके थे।

सन् १९०६ के आस पास मौलाना की हिदायतों के मुताबिक उनके शागिर्द मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी ने मदरसा देवबन्द में 'जमीयतुल अन्सार' के नाम से एक नया संगठन कायम किया, जिसमें देवबन्द के मदरसे से निकले विद्यार्थी शरीक थे। सन् १९१० में देवबन्द के मदरसे का जो शानदार कन्वोकेशन हुआ उसमें इस जमात के कायम होने का ऐलान किया गया और अगले साल उसका सालाना जलसा करने का भी ऐलान हुआ। इसी ऐलान के मुताबिक 'जमीयतुल अन्सार' का पहला जलसा १५-१६-१७ अप्रैल सन् १९११ ई० के मुगटाबाद में हुआ, जिसमें इस संगठन के असूलों पर रोशनी डालते हुए मौलाना महमूदुल हसन के गुरु भाई मौलाना अहमद हसन मुहद्दिस अमरोही ने अपनी तक्रीर में कहा था—

“बाज़ नई रोशनी ज़े शैदाई (प्रेमी) कहते हैं कि जमीयतुल अन्सार ओल्ड बायज एसोसिएशन की नक़ल है—लेकिन यह बात हरगिज़ सही नहीं। जमीयतुल अन्सार की तहरीक अब से तीस बरस पहले शुरू हो गई थी, और उस तहरीक के बानी मदरसे आलिया के वह तालिम इल्म थे जो आज उलूम (इलमों)

के उस चश्मा (दरिया) हैं और आफताबे फ़नून (हुनर के सूरज) हैं और जिनकी ज्ञात बाबरकात (बरकत वाली ज्ञात) पर आज जमाना जिस क़दर नाज़ वरे थोड़ा है। लेकिन यह तहरीक उस वज़हत जमाने की ज़रूरतों से मुताल्लिक न थी, इस लिये रुक गई और आखिर इस कुल्लिये (असूल) की बिना पर कि ज़रूरत हर चीज़ को अपने आप पैदा कर देती है, १९०९ से इस अंजुमन को दुबारा ज़िन्दा कर के 'जमीयतुल अन्सार' नाम रक्खा गया। जमीयतुल अन्सार हरगिज़ किसी अंजुमन की नक़ल नहीं है और न किसी जाती मक़ासिद (निजी फ़ायदे) से बहैसियत दुनियावी इसका ताल्लुक है, बल्कि इसके मक़सद वह ज़रूरी मक़सद हैं, जिनकी आज कल बहुत ज़रूरत है।"

इस हवाले से जाहिर है कि जमीयतुल अन्सार 'समरतुल तर्बियत' का ही दूसरी रूप थी।

एक तरफ़ मौलाना महमूदुल हसन अपने संगठन को मज़बूत बनाते जा रहे थे, दूसरी तरफ़ हुकूमत भी ख़ामोश नहीं बैठी थी, मदरसे के चलाने वालों ने अंगरेज़ सरकार से रुपये की मदद लेने से बार-बार इनकार किया था, मदरसे के 'बानी मौलाना क़ासिम साहब व उनके साथियों की ज़िन्दगी के हालात सरकार को मालूम थे। हुकूमत के दिल में काफ़ी डर पैदा हो चुका था। सन् १९१० में साहबज़ादा आफताब अहमद ख़ाँ की तजवीज़ पर मदरसा देवबन्द की इन्तज़ामिया कमेटी ने यह तय किया कि हर साल मदरसा देवबन्द के कुछ तालिब इल्म अंगरेज़ी पढ़ने के लिये अलीगढ़ कालेज जायें और अलीगढ़ कालेज के कुछ तालिब इल्म अरबी की तालीम के लिये मदरसा देवबन्द भेजे जायें, इस तजवीज़ के मुताबिक़ अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों का जो पहला जत्था देवबन्द आया उसी के एक विद्यार्थी अनीस अहमद को सरकार ने अपनी तःफ़ मोड़ लिया और वह मौलाना महमूदुल हसन की तमाम हलचलों की रिपोर्ट हुकूमत तक पहुँचाने लगा। उन दिनों मौलाना और उनके

साथियों की खास बैठकें एक तहखाने में हुआ करती थीं, जिसमें सरहद व काबुल से आए हुए वह लोग भी, जो मौलाना के मिशन में शरीक थे, शामिल हुआ करते थे। अनीस अहमद को उस तहखाने की बैठकों का हाल तो नहीं मालूम होता था, लेकिन वह उन आने जाने वालों के फोटो लेकर हुकूमत तक पहुँचाते रहता था। नतीजा यह हुआ कि हुकूमत को हालाँकि मौलाना के असली भेद नहीं मालूम हो सके फिर भी वह इतना तो जान ही गई कि मौलाना कोई एक बहुत बड़ी साजिश अंगरेजों के खिलाफ़ खड़ी कर रहे हैं।

कुछ दिन बाद ही तुरंगज़ई के हाजी साहब ने सरहद पर मदरसे कायम करने शुरू किये। वलीउल्लाही जमात का अपने असूलों के प्रचार के लिये ऐसे मदरसों का कायम करना एक पुराना तरीका था। तुरंगज़ई के हाजी साहब को अपने इस काम में अपने गांव के पास में ही एक सच्चे और मेहनती नौजवान की मदद भी हासिल हो गई, जो बाद में बहुत मशहूर सियासी लीडर हुआ। यह नौजवान खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां साहब थे, जो आज सरहदी गान्धी के नाम से तमाम हिन्दुस्तान में मशहूर हैं, लेकिन इस बात को इने गिने लोग ही जानते हैं कि उनको सियासत के मैदान में खींचने वाले वलीउल्लाही जमात के ही एक मेम्बर तुरंगज़ई के हाजी साहब थे।

सरकार ने फ़ौरन सरहद के यह मदरसे ज़बरन बन्द कर दिये और हाजी साहब पर कुछ पाबन्दियाँ लगाने या उनको कैद करने की भी कोशिश की। इस पर मौलाना की हिदायत के मुताबिक़ हाजी साहब आज़ाद क़बीलों में चले गए। उन्होंने वहाँ पठानों का संगठन शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद मौलाना महमूदुल हसन ने मदरसा देवबन्द के एक पुराने विद्यार्थी मौलाना सैफ़ुर्रहमान को आज़ाद क़बीलों में संगठन के लिये तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास भेजा। मौलाना सैफ़ुर्रहमान पेशावर के नज़दीक के ही रहने वाले थे और मदरसा देवबन्द में उन्होंने

तालीम पाई थी। कुछ दिन टोक में पढ़ाकर वह दिल्ली में फ़तहपुरी मदरसे के हेड मास्टर हो गए थे। तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास पहुँच कर उन्होंने पठानों का काफ़ी संगठन किया। इसके बाद वह इसी काम से काबुल चले गए, पर बाद में सरकारी दबाव और चालों ने उन्हें इस सही, पर ख़तरनाक रास्ते से अलग कर दिया।

मौलाना महमूदुल हसन का प्रोग्राम यह था कि काबुल से लेकर हिन्दुस्तान के ठेठ दूसरे कोने तक एक संगठन फैल जाय। वह संगठन जब पूरा हो जाय तो काबुल और आजाद कबीलों की एक फ़ौज हिन्दुस्तान पर हमला करे, मुल्क के भीतर का संगठन उस वक़््त मुल्क के भीतर से लड़ाई छेड़ दे और इस तरह अंगरेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंका जाय।

कुछ दिनों बाद जब टर्की और बलकान रियासतों में लड़ाई छिड़ी, तो मौलाना और उनकी पार्टी ने टर्की की मदद करने का फ़ैसला किया। इसी फ़ैसले के मुताबिक़ डाक्टर अन्सारी साहब एक डाक्टरी मिशन लेकर तुर्की गए। इसके कुछ दिन बाद सन् १९१४ में यूरोपियन जंग का ऐलान हो गया। मौलाना ने फ़ौरन तय कर लिया कि ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ हथियार उठाने का यह सबसे अच्छा मौक़ा है। उन्होंने इसके लिये अपने संगठन की कड़ियाँ और भी मजबूत करनी शुरू कर दीं। इस वक़््त तक वह दिल्ली में भी 'नज़ारतुल मआरिफ़' के नाम से एक मदरसा कायम कर चुके थे, जो दर असल वलीउल्लाही जमात के क्रान्ति-कारी संगठन की एक शाख़ था। इस मदरसे का तमाम बोझ मौलाना महमूदुल हसन साहब के ख़ास शगिर्द और उनकी सियासत के राज़दों मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी पर था और मदरसे की मदद डाक्टर अन्सारी, हकीम अजमल ख़ाँ वगैरा भी करते रहते थे, जो मौलाना के मुरीद और उनके दोस्तों में से थे।

इसी जमाने में हिन्दुस्तान के एक दूसरे मौलवी अब्दुल हक़ हक़ानी ने यह फ़तवा दिया कि तुर्की के खिलाफ़ अंगरेजों की मदद करना जायज़ है। इस फ़तवे पर कुछ और मौलवियों के भी दस्तख़त थे। कुछ दिन बाद यह फ़तवा दस्तख़तों के लिये मौलाना महमूदुल हसन साहब के सामने पेश किया गया। मौलाना महमूदुल हसन ठंडे मिज़ाज के थे और अपने सियासी ख़याल सिवा अपने ख़ास शागिर्दों के आम तौर पर जाहिर नहीं किया करते थे, लेकिन जब यह फ़तवा एक आम जलसे में उनके सामने पेश किया गया, तो उन्होंने अपने मिज़ाज के खिलाफ़ बड़े सख़्त लफ़्ज़ों में उस फ़तवे की बुराई की और उसे उठाकर फेंक दिया। उस ज़माने में यह एक आम अफ़वाह फैलाई गई थी कि अंगरेज हुकूमत हिन्दुस्तान में अपनी ज़रा भी मुख़ालफ़त बरदाश्त नहीं करेगी और जो भी उसके रास्ते में आवेगा उसे पूरी तरह कुचल देगी। मौलाना जानते थे कि इस फ़तवे के बारे में चुप रहना हुकूमत की धमकी को मंज़ूर कर लेना और तमाम मुल्क के सामने डर की एक बुरी मिसाल खड़ी कर देना है, इस लिये उन्होंने तमाम ख़तरों को पहचानते हुए भी उसके बारे में सख़्त ख़व्य्या इख़तियार किया। उनके इस बरताव से उनके साथियों में बड़ी सनसनी फैल गई और लोग यह उम्मीद करने लगे कि मौलाना फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये जावेंगे, लेकिन उस वक़्त हुकूमत की हिम्मत उन पर हाथ डालने की न हुई। हलाँकि इसके बाद मौलाना को हुकूमत के हाथों इससे बीसियों गुनी ज़्यादा तकलीफ़ उठानी पड़ी।

अगस्त सन् १९१५ में मौलाना ने अपने ख़ास शागिर्द उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजा। उबेदुल्ला सिन्धी ने लिखा है कि मौलाना ने जब उनको काबुल जाने का हुकुम दिया, तब कोई ख़ास प्रोग्राम उन्हें

नहीं दिया। काबुल पहुँच कर उनको मालूम हुआ कि मौलाना ने पिछले बीसियों बरसों से वहाँ मैदान तय्यार कर लिया था। जब उबेदुल्ला सिन्धी जनरल नादिर खाँ से मिले तब उनको यह देखकर बहुत हैरत हुई कि जनरल नादिर खाँ उनकी बाबत पहले से बहुत कुछ जानते थे। इसके बाद काबुल में इस जमात के कारकुनों ने जो कुछ किया, उसकी एक लम्बी कहानी है। थोड़े से में यह कहा जा सकता है कि काबुल के तख्त से अंगरेजों के हिमायती अमीर हबीबुल्ला को हटा कर उनकी जगह अंगरेजों के सख्त मुखालिफ़ अमानुल्ला खाँ को बैठाने और अंगरेजों के पंजों से अफ़ग़ानिस्तान को आजाद कराने में बहुत बड़ा हाथ मौलाना महमूदुल हसन और उनके शागिर्दों का था। यह एक ऐसी बात है, जिसे लोग बढ़ा कर कही हुई समझ सकते हैं, लेकिन अब जमाना आ गया है कि इसके पूरे सबूत भी पेश किये जा सकते हैं।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजने के एक महीने बाद १८ सितम्बर १९१५ को मौलाना महमूदुल हसन साहब भी अपने कुछ खास शागिर्दों के साथ हज के बहाने मक्का चल दिये। हुकूमत को अपने जासूस अनीस अहमद के जरिये मौलाना की इन हलचलों की बातें मालूम होती रहती थीं। जब मौलाना को हिन्दुस्तान से बाहर जाते देखा ता हुकूमत का माथा ठनका। मौलाना के बम्बई पहुँचते पहुँचते वहाँ के अफ़सरों को मौलाना की गिरफ़्तारी का हुकूम भेजा गया। हुकूम कुछ देर से पहुँचा। वह उस वक्त मिला जब बीसियों हजार मुसलमान समन्दर के किनारे खड़े अपने इस इमाम को विदा कर रहे थे। इस के बाद जहाज़ के कप्तान को मौलाना की गिरफ़्तारी का हुकूम दे दिया गया। वह भी किसी वजह से अमल में न आ सका। नतीजा यह हुआ कि मौलाना मय अपने साथियों के हेजाज़ पहुँच गए। वहीं वह हेजाज़ के गवर्नर गालिब पाशा से मिले और उनसे आजाद क़बीलों के लिये एक ख़त हासिल किया, जिसमें तुर्की सरकार को मौलाना का मददगार बताया गया

और कबीलों से यह अपील की गई थी कि वह अंगरेजों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई छेड़ दें। रौलट कमेटी की रिपोर्ट में इस खत का जिक्र 'गालिब नामा' के नाम से किया गया है।

गालिब पाशा के इस खत को मौलाना के एक खास शागिर्द मुहम्मद मियाँ अन्सारी लेकर चले और हिन्दुस्तान होते हुए आजाद कबीलों में वह खत पहुँचा कर काबुल पहुँच गए। इस के बाद मौलाना मका और मदीना पहुँचे। वहीं मौलाना महमूदुल हसन के एक दूसरे शागिर्द मौलाना हुसैन अहमद साहब पहिले से रह रहे थे। मौलाना को हुसैन अहमद साहब से काफी मदद मिली।

मदीने में मौलाना ने तुर्की हुकूमत के जंगी वजीर अनवर पाशा और एक दूसरे फौजी अफसर जमाल पाशा से मुलाकात की। अनवर पाशा मौलाना की बातत पहिले से सुन चुके थे। उन्होंने मौलाना को पूरी मदद देने का वादा किया। साथ ही यह भी कहा कि "असली मदद तो आपके मुल्क के ही लोग दे सकते हैं और इसके लिये जरूरी यह है कि आप ग़ैर मुसलमानों को भी अपने साथ लें।" अनवर पाशा की इन बातों का मौलाना पर गहरा असर पड़ा। उन्होंने काबुल में काम करने वाले अपने साथियों को यह सन्देश भेजा कि वह ग़ैर मुसलमानों को खास तरीके पर अपनी तहरीक में शरीक करें और उनको जिम्मेदारी की जगहें देकर यह इतमीनान दिलाने की कोशिश करें कि इस तहरीक का मतलब सिर्फ़ मुल्क की आजादी है, न कि हिन्दुस्तान पर फिर से मुसलमानों की हुकूमत कायम करना। इस संदेश के मुताबिक़ राजा महेन्द्र प्रताप को हिन्दुस्तान की उस आरज़ी सरकार का प्रेसीडेंट बनाया गया जो काबुल में मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी वगैरा ने कायम की थी। वह इस तरह की पहली सरकार थी, जिसकी याद नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने जापान, याम और बर्मा में आजाद हिन्द सरकार कायम करके बीसियों बरस बाद फिर से ताज़ा कर दी।

इसी वक्त अनवर पाशा की सलाह से यह भी तय हुआ कि मौलाना महमूदुल हसन साहब खुद भी आजाद क़बीलों में पहुँचें। इसका इन्तज़ाम हो ही रहा था कि मक्का का हाकिम शरीफ़ हुसैन अंगरेजों से मिल गया। उसने तुर्की हुकूमत के खिलाफ़ बगावत का भंडा खड़ा कर दिया। मौलाना इसका नतीजा जानते थे। उन्होंने मक्का से निकल जाने की काफ़ी कोशिश की पर नाकाम रहे और मय अपने साथियों के १७ सितम्बर १९१६ को गिरफ़्तार कर लिये गए। इसके बाद करीब चार साल तक वह माल्टा के फ़ौजी कैदख़ाने में नज़रबन्द रखे गए। इस चार साल में उनको व उनके साथियों को जो सख्त तकलीफ़ें उठानी पड़ीं, उनको बयान करने के लिये कई मोटी मोटी ज़िल्दें भी नाकाफ़ी होंगी। शुरू में तो सभी को यक़ीन था कि फाँसी दे दी जायगी और इसी यक़ीन के मुताबिक़ मौलाना के एक साथी अज़ीज़ गुल साहब सरहदी अपनी गर्दन दबा दबा कर देखा करते थे कि फाँसी के वक्त कितनी तकलीफ़ होती है। बाद में हुकूमत ने किसी मसलहत से फाँसी तो न दी, पर यह चार साल की नज़रबन्दी फाँसी से ज़्यादा तकलीफ़ की थी। मौलाना और उनके साथियों ने खुशी खुशी यह सब सहा और कभी अपने माथे पर शिकन भी नहीं आने दी। मौलाना के एक साथी हकीम नसरत हुसैन साहब का तो माल्टा में ही इन्तक़ाल भी हो गया। आज भी माल्टा में मुल्क के इस देश भक्त सपूत की क़ब्र एक सुनसान जगह में बनी हुई है और 'नै चिराग़े नै गुले' उस दिन का इन्तज़ार कर रही है जब आजाद हिन्दुस्तान उसकी अहमियत समझेगा।

मई सन् १९२० के आख़िरी हफ़्ते में मौलाना महमूदुल हसन साहब इस नज़रबन्दी से रिहा होकर अपने साथियों के साथ बम्बई पहुँचे। उस वक्त तक खिलाफ़त की तहरीक़ शुरू हो चुकी थी। हुकूमत को डर था कि मौलाना भी आकर कहीं इसमें शरीक़ न हो जायँ, इस लिये जहाज़ पर ही ग्वाफ़िया पुलिस के कुछ अफ़सर और एक कोई मौलवी रहीम

बख्श साहब मौलाना से मिले और उनको यह समझाने का काशिश की कि वह बम्बई के किसी इस्तक़्बालिया जुलूस में शरीक न हों और न ख़िलाफ़त से अपना कोई सम्बन्ध दिखावें, बल्कि चुपचाप देवबन्द चले जायें।

मौलाना ने इन लोगों को कोई जवाब नहीं दिया। उनको खुद जुलूस वगैरा में शरीक होना अच्छा नहीं लगता था। लेकिन इस मशविरे में जो इशारा था, उसकी वजह से उन्होंने ख़िलाफ़त कमेटी को अपना स्वागत करने की इजाजत दे दी। इसके बाद तो देवबन्द तक हर स्टेशन पर उनका शाही इस्तक़्बाल हुआ। इस तरह उन्होंने हुकूमत को यह जता दिया कि चार साल की नज़रबन्दी की तकलीफ़ें उनकी सेहत और जिस्म पर भले ही कितना भी असर डाल सकी हों, पर उनकी उमंगों पर उनका कोई असर नहीं है। मुल्क की आज़ादी की चाह अब भी उसी तरह उनके दिल में मौजूद है।

देवबन्द आकर मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपने तमाम ख़ास साथियों को इकट्ठा करके हुकूमत के ख़िलाफ़ लड़ने का एक प्रोग्राम उनके सामने रक्खा। इसके साथ ही उन्होंने यह भी अपने साथियों से पूछा कि अंगरेज़ों और अंगरेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ उनके दिल में जो नफ़रत है, वह सिर्फ़ इस वजह से तो नहीं है कि जाती तौर पर उनको इनके ज़रिए तकलीफ़ें उठानी पड़ी हैं। यह बात साबित करती है कि मौलाना खुद अपनी बाबत भी कितनी गहराई के साथ सोचा करते थे।

मौलाना महमूदुल हसन ने यह नया प्रोग्राम ऐसा बनाया था, जिसमें आम जनता हिस्सा ले सके। वह अब तक यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि सिर्फ़ सियासी साज़िशों से आज़ादी की

सच्चाई आगे नहीं बढ़ सकती। इसी सच्चाई को हिन्दुस्तान के दूसरे क्रान्तिकारियों ने सन् १९३५-३६ के बाद समझा और वह भी बम पिस्तौलों का सहारा छोड़ कर जनता यानी किसान मजदूरों का संगठन करने लगे। मौलाना महमूदुल हसन ने इस सच्चाई को पन्द्रह बरस पहले समझ लिया था। यह उनकी दूरन्देशी की एक दूसरी मिसाल है।

नज़रबन्दी के इन चार बरसों में मौलाना की सेहत बिल्कुल गिर गई थी। गठिया का दर्द उनको दिन रात परेशान करता था, साथ ही दम दम पर पेशाब जाने का रोग भी पैदा हो गया था। डाक्टरों की राय थी कि मौलाना आराम करें, लेकिन मौलाना को एक पल के लिये भी चैन नहीं था। वह दिन रात घूमते रहते थे। इसके कुछ दिन पहले 'जमीयतुल उलमा' के नाम से एक जमात कायम की जा चुकी थी, जो मुल्क की आज़ादी के लिये एक खुला प्रोग्राम जनता के सामने रखने का मिशन लेकर शुरू हुई थी। मौलाना ने इस खयाल को बहुत पसन्द किया। वह दिन रात उसके संगठन को मजबूत करने की कोशिश में जुटे रहने लगे। इस मेहनत का नतीजा यह हुआ कि उनको तपेदिक हो गया। डाक्टरों ने फिर यह बतलाया कि मौलाना का जिस्म थोड़ी सी भी मेहनत बर्दाश्त नहीं कर सकता, लेकिन मौलाना को एक पल भी बेका खोना गवारा नहीं था। दिन रात बुझार में सुनते हुए वह तजवीज़ों के मसविदे लिखने व साथियों को हिदायतें देने में जुटे रहते थे।

इसी ज़माने में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के कुछ आज़ाद खयाल विद्यार्थियों ने उनसे अपने जलसे की सदारत करने की दरखास्त की। मौलाना इस वक्त हिलने डुलने से भी मजबूर थे। डोली में लोटे कर वह स्टेशन पहुँचे। इसी हालत में अलीगढ़ तक का

सफर किया। वहाँ पहुँच कर २६ अक्टूबर सन् १९२० को जलसि की सदारत की। यह उनकी आखिरी तक्ररीर थी, जिसमें मुल्क की आज़ादी के लिये सब कुछ दाँव पर लगा देने की अपील उन्होंने बड़े पुरदर्द लफ्ज़ों में की थी। यह जलसा अलीगढ़ कालेज के उन विद्यार्थियों का था, जिन्होंने खिलाफ़त तहरीक के प्रोग्राम के मुताबिक अलीगढ़ यूनीवर्सिटी इस लिये छोड़ दी थी, क्योंकि वह सरकारी मदद पर चलती थी। उसी वक्त मौलाना महमूदुल हसन साहब के हाथों से 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मदरसे की भी नींव रखी गई जो आज भी मदरसा देवबन्द की तरह दिल्ली में क़ौमी तालीम का एक ख़ास मरकज़ है। इसके ठीक एक महीने बाद ३० अक्टूबर सन् १९२० ई० को दिल्ली में डाक्टर अंसारी साहब की कोठी पर मौलाना महमूदुल हसन साहब का इन्तक़ाल हुआ। कहा जाता है कि मरने से कुछ घंटे पहले ही आज़ाद क़बीलों के इलाक़े से आए हुए कुछ आदमियों को उन्होंने हिदायतें दी थीं और चूँकि सुनने और बोलने की ताक़त उस वक्त बहुत कम हो गई थी, इसलिये मौलाना के मुँह पर कान रख कर सरहद के उन पठानों ने मौलाना की यह आखिरी बातें सुनी थीं।

मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपनी इमामत के ज़माने में पिछले दो सौ बरस से चली आ रही बलीउल्लाही तहरीक में दो ख़ास नई बातें कीं, पहली यह कि उन्होंने ग़ैर मुसलमानों को शरीक करके इस तहरीक को सच्चे मानों में तमाम हिन्दुस्तान की तहरीक बना दिया और दूसरी यह कि इसमें आम जनता को शरीक करके वह उसे एक नया रास्ता दिखा गए।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी

वलीउल्लाही जमात के छोटे इमाम मौलाना महमूदुलहसन साहब के उन साथियों और शागिदों में, जिन्होंने मुल्क की आजादी की लड़ाई में निहायत दिलेरी के साथ हिस्सा लिया, मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का नाम हमेशा बड़ी इज्जत के साथ लिया जायगा। मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का अपनी जिन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा जिलावतनी की दिल कँपा देने वाली मुशकिलों में बिताना पड़ा।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का जनम १० मार्च सन् १८७१ ई० को मियांवाली (पंजाब) के एक हिन्दू से सिख बने हुए खानदान में हुआ था। उनके बाप का नाम रामसिंह था, जो सुनारगोरी और साहूकारी का पेशा करते थे और अपने इस बेटे के जनम से चार महीने पहले ही चल बसे थे। नतीजा यह हुआ कि उबेदुल्ला साहब को अपने बाप की मुहब्बत न मिल सकी, लेकिन उनके बाबा जसपतराम जी उनके पैदा होने के करीब दो साल बाद तक जिन्दा रहे। इसके बाद उबेदुल्ला साहब की माँ अपनी गृहस्थी के साथ मायके आ गईं। कुछ अरसे के बाद वह अपने भाई के साथ जयपुर जिला डेरा गाजीख़ाँ चली गईं और वहाँ रहने लगीं। यहीं पर मौलाना ने शुरू की तालीम पाई और यहीं पर सन् १८८७ में अपने एक आर्यसमाजी दोस्त के जरिये मिली हुई एक किताब 'तोहफ़तुल हिन्द' के असर में आकर उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया और घर छोड़कर सिन्ध जा पहुँचे। इस वक्त मौलाना की उमर सिर्फ १६ साल की थी।

सिन्ध पहुँच कर मौलाना ने कुछ दिनों तक इसलामी, जल-सफ़े की शुरु की किताबें पढ़ीं जिनकी तरफ उनका ख़ास मुकाब था। इसके बाद सख़र इसलामिया स्कूल के हेडमास्टर मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ युसुफ़ज़ई की लड़की के साथ उनकी शादी हो गई। मौलाना ने इसके बाद सख़र में ही रहने का इरादा कर लिया और इसकी ख़बर अपनी माँ को भी दे दी। माँ जो अपने बेटे के वियोग में बेहाल हो रही थीं, यह ख़बर मिलते ही सख़र पहुँचीं। पर उनको यह देख कर बड़ा धक्का लगा कि उनके बेटे ने इसलाम क़बूल कर लिया है। फिर भी बेटे की मुहब्बत की वजह से वह उससे दूर रहने को तय्यार नहीं थीं। इसी तरह मौलाना के दिल में भी अपनी माँ के लिये इज्जत और मुहब्बत थी, लेकिन जिस चीज़ को वह ठीक समझते थे उसे किसी दुनियावी मुहब्बत के लिये छोड़ देना भी वह ग़वारा नहीं कर सकते थे। इतना होने पर भी उन्होंने कभी अपनी माँ को, जो सिर्फ़ उनके ही आसरे पर थीं, मुसलमान बनाने की कोशिश नहीं की। यही वजह है कि उनकी माँ अपने मज़हब पर क़ायम रहते हुए भी बराबर उनके साथ रह सकीं। इससे ज़ाहिर होता है कि मौलाना ने हालांकि अपने मज़हब को बदला था, लेकिन वह ग़ैर ज़रूरी मज़हबी जोश उनमें बिलकुल ही नहीं था जो अक़मर एक मज़हब से दूसरे मज़हब में जाने वालों में पाया जाता है।

सिन्ध में रहते हुए मौलाना के हाथ कुछ किताबें लगीं जो वली-उल्लाही जमात के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ के भतीजे साह इस्माईल शहीद की लिखी हुई थीं। इन किताबों के जरिये मौलाना को सबसे पहिले वलीउल्लाही जमात के उसूलों की जानकारी हुई और वह इसके बाबत कुछ ज़्यादा मालूम करने के लिये बेचैन हो उठे। इसी सिलसिले में सिन्ध के कुछ ऐसे लोगों से भी उनकी जानकारी हुई

जो कज़ीउल्लाही जमात से ताल्लुक रखते हुए हिन्दुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने की तय्यारी कर रहे थे। मौलाना ने भी उनके काम में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया और जब उन लोगों को यह पक्का यक़ीन हो गया कि मौलाना हर तरह से एतबार के क़ाबिल हैं और उनके दिल में मुल्क की आज़ादी के लिये सच्ची तड़प है, तो उनको यह भेद भी बता दिया कि इस तमाम संगठन के सबसे बड़े मौजूदा नेता देवबन्द मदरसे के हेड मास्टर मौलाना महमूदुलहसन साहब हैं। इतना मालूम होते ही मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी देवबन्द जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब से पढ़ना शुरू कर दिया और कुछ दिन बाद ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब का इतना यक़ीन हासिल कर लिया कि वह उनकी गुप्त चुप होने वाली सियासी मजलिसों में भी शरीक होने लगे।

इस वक्त मौलाना महमूदुलहसन साहब के सामने एक खास काम मदरसा देवबन्द के विद्यार्थियों में देश भक्ती का प्रचार करना था जिससे आज़ादी की लड़ाई के लिये उनमें से रंगरूट मिल सकें। इस काम के लिये उनकी सलाह से मदरसा देवबन्द के विद्यार्थियों का एक संगठन मौलाना अबेदुल्ला ने बनाया, जिसका नाम 'जमीयतुल अन्सार' रक्खा गया। मौलाना अबेदुल्ला खुद इसके जनरल सेक्रेटरी बने। लेकिन इस वक्त तक मदरसा देवबन्द में कुछ ऐसे लोग भी घुस आये थे जिनको ब्रिटिश हुकूमत की मुखालफ़त का नाम सुनते ही कपकपी आने लगती थी। ऐसे लोगों को मौलाना अबेदुल्ला साहब का देवबन्द के मदरसे में रहना खटका और उन्होंने उन पर तरह तरह के इलज़ाम लगाने शुरू कर दिये। बदकिस्मती से उस वक्त इन इलज़ाम लगाने वालों में कुछ ऐसे लोग भी शरीक हो गए थे, जिनको मौलाना अबेदुल्ला बहुत इज़्ज़त की निगाह से देखते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि मौलाना अबेदुल्ला का मन देवबन्द से ऊबने लगा और वह सिंध

वापस जाने की सोचने लगे। लेकिन मौलाना महमूदुलहसन साहब अपने इस शागिर्द की ग़ैर मामूली सचाई और दिमागी ताक़त से वाकिफ़ हो चुके थे, इसलिये उन्होंने समझा बुझा कर मौलाना उबेदुल्ला को देहली भेज दिया, जहाँ वह 'नज़ारतुल मआरिफ़' के नाम से एक मदरसा चलाने लगे। इस मदरसे का ज़रूरी इन्तज़ाम करने के लिये खुद मौलाना महमूदुलहसन साहब देहली पहुँचे और हकीम अजमल खाँ साहब व डाक्टर अन्सारी साहब वग़ैरा अपने खास-खास दोस्तों से मौलाना उबेदुल्ला की जान पहचान करा कर उनसे यह वादा ले गए कि वह वक्त ज़रूरत मदरसे की मदद करते रहेंगे।

ज़ैमा कि रौलट कमेटी की रिपोर्ट में भी ज़िक्र है, देहली आ जाने के बाद भी मौलाना उबेदुल्ला मौलाना महमूदुलहसन साहब से मिलने के लिये बराबर देवबन्द आते जाते रहे। इसी बीच मौलाना उबेदुल्ला ने दिल्ली में एक इनक़लाबी पार्टी खड़ी कर ली थी जिसका मक़सद हथियारों के ज़रिये अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल देना था। यह सन् १९१३ का ज़माना था और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भी, खासकर बंगाल और पंजाब में, इसी तरह के और भी बहुत से संगठन कायम हो चुके थे। मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने इन संगठनों से भी अपना ताल्लुक कायम करने की कोशिश की जिसका ज़िक्र हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल ने अपनी किताब 'बन्दी जीवन' में किया है।

इसके कुछ दिन बाद ही यूरोप में लड़ाई के नगाड़े गनगना उठे। मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इस मौक़े से फ़ायदा उठाना चाहा और मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल जाने के लिये कहा। मौलाना महमूदुलहसन साहब की आदत थी कि वह नज़दीक से नज़दीक के आदमी को भी सिर्फ़ उतनी ही बातें बताते थे जितनी बताना ज़रूरी

होता था। इस वजह से मौलाना उबेदुल्ला नहीं जानते थे कि काबुल में मौलाना महमूदुलहसन साहब का कितना असर है। इधर वह देहली में काफ़ी काम कर चुके थे, इस लिखे उनकी राय काबुल जाने की नहीं थी। इसी वजह से जब एक दिन मौलाना महमूदुलहसन साहब ने अकस्मात् ही मौलाना उबेदुल्ला से कहा—“उबेदुल्ला ! काबुल जाओ” तो उबेदुल्ला साहब ने कुछ हैरानी के साथ पूछा —“क्यों ?” मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इसका कुछ जवाब न दिया और खामोश होगए। दूसरे दिन भी उन्होंने मौलाना उबेदुल्ला से इसी तरह कहा और मौलाना के काबुल जाने की वजह पूछने पर खामोश होगए। लेकिन उनकी आँखों में थोड़ी सी नाराज़ी की झलक उबेदुल्ला साहब को महसूस हुई। इससे मौलाना उबेदुल्ला को बड़ा धक्का लगा और वह यह इन्तज़ार करने लगे कि उनको फिर काबुल जाने का हुक्म मिले और वह उसकी तामील कर सकें।

दो चार दिन बाद ही मौलाना महमूदुलहसन साहब ने मौलाना उबेदुल्ला से फिर कहा—“उबेदुल्ला काबुल ! जाओ।” उबेदुल्ला साहब ने यह सुनते ही “हाँ” करदी और काबुल जाने की तयारियाँ शुरू कर दीं। उस वक्त उनके पास इतना पैसा नहीं था कि इस सफ़र का इन्तज़ाम कर सकें, लेकिन इसका ज़िम्मा मौलाना महमूदुलहसन साहब से करना उनको अच्छा न लगा। आखिर उनके एक शागिर्द शेख़ अब्दुल रहीम (आचार्य कृपलानी जी के बड़े भाई) ने अपनी बीबी के ज़ेवर बेच कर इस सफ़र का खर्च जुटाया और मौलाना उबेदुल्ला अपने तीन साथियों को लेकर अगस्त १९१५ में हिन्दुस्तान की सरहद पार करके काबुल की तरफ़ चल पड़े। रास्ते में बहुत सी दिक्कतों का सामना करते हुए १५ अक्टूबर सन् १९१५ को मौलाना काबुल में दाखिल हो गए। इस वक्त उनके पास खर्च के लिये सिर्फ़ एक पौन्ड बचा था और उनको इतना भी मालूम नहीं था कि आखिर इस बेगाने मुल्क में उनको क्यों भेजा

गवा है। अपनी इस हालत का जिक्र करते हुए अपनी डायरी में उन्होंने एक जगह लिखा है—“सन् १९१५ में शेखुल हिन्द के हुक्म से काबुल गया। मुझे कोई मुफ़्तसिल प्रोग्राम नहीं बताया गया था, इसलिये मेरी तबियत इस हिजरत को पसन्द नहीं करती थी। लेकिन तामील हुक्म के लिये जाना जरूरी था। खुदा ने अपने फ़जल से निकलने का रास्ता साफ़ कर दिया और मैं अफ़ग़ानिस्तान पहुँच गया। दिल्ली की सियासी जमात को जब मैंने यह बताया कि मेरा काबुल जाना तय हो चुका है तो उसने भी अपना नुमाइन्दा मुझे बना दिया लेकिन कोई माफ़ूल प्रोग्राम वह भी मुझे नहीं बता सके।” इन लफ़्ज़ों से जाहिर होता है कि मौलाना उबेदुल्ला साहब डिसिप्लिन की पाबन्दी का कितना खयाल रखते थे।

काबुल पहुँच कर भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को बड़ी बड़ी तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। शुरू शुरू में तो उनको काबुल सरकार ने नज़रबन्द करके जेल में बन्द कर दिया, जहाँ कुछ और भी हिन्दुस्तानी, जो इसी मक़सद से काबुल आये थे, बन्द थे। इसके बाद जर्मन टर्किश मिशन के साथ राजा महेन्द्र प्रताप काबुल पहुँचे। तब उन तमाम हिन्दुस्तानियों के साथ मौलाना उबेदुल्ला को भी रिहाई मिली। रिहा होने के बाद मौलाना उबेदुल्ला जनरल नादिर खाँ से मिले जिनको मौलाना उबेदुल्ला के मिशन की ख़बर पहले ही लग चुकी थी। जनरल नादिर खाँ ने मौलाना को हर तरह की मदद देने का वादा किया। इसके बाद ही काबुल में एक आरज़ी आज़ाद हिन्द सरकार बनाई गई और मौलाना उबेदुल्ला को उसमें होम मेम्बर का ओहदा दिया गया। इसके अलावा हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ने वालों की जो फ़ौज काबुल में खड़ी की जाने वाली थी, उसका जनरल भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को ही बनाया गया। इसके अलावा हिन्दुस्तान में भी ‘ख़ुदाई फ़ौज’ के नाम

से एक फ़ौज का संगठन करना तय हुआ, जिसके सबसे बड़े कमान्डर मौलाना महमूदुलहसन साहब चुने गए।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने इन तमाम फ़ौसलों की खबर मौलाना महमूदुलहसन साहब तक पहुँचाना ज़रूरी समझा। मौलाना महमूदुलहसन साहब इस वक्त मक्के में थे। मौलाना उबेदुल्ला साहब ने रेशम पर उनके लिये एक खत लिखवाया, जो इस कारीगरी से लिखा गया था कि देखने में तो वह फूल से मालूम होते थे, लेकिन दर असल उसमें लड़ाई का तमाम नक़शा और इन तमाम कामों की रिपोर्ट थी। वह रेशम पर कढ़ा हुआ खत अब्दुल हक़ नाम के एक विद्यार्थी को सौंपा गया कि वह उसे शेख़ अब्दुर्रहीम तक पहुँचा दे। इसके बाद शेख़ अब्दुर्रहीम उसे मौलाना महमूदुलहसन साहब के पास तक पहुँचा देते। लेकिन अब्दुलहक़ ने हिन्दुस्तान में आते ही यह खत ख़ान बहादुर हक़नवाज़ खाँ को दे दिया और खाँ साहब ने उसे सर माइकेल ओडायर तक पहुँचा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि अंगरेजों को यह तमाम मेद मालूम हो गया। मौलाना महमूदुलहसन साहब मक्के में फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये गए। शेख़ अब्दुर्रहीम के नाम भी वारंट निकला, लेकिन वह फ़रार हो गए। अंगरेजों ने काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ पर यह ज़ोर डाला कि वह मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी और उनके साथियों को अंगरेजों के हवाले कर दें। अमीर हबीबुल्ला इस वक्त अंगरेजों के हाथों की कठपुतली बने हुए थे। इस लिये वह इन तमाम लोगों के अंगरेजों के हाथों में देने का भी तय्यार थे। लेकिन अमीर के छोटे भाई अक़्बरुल्ला खाँ और अमीर के लड़के अमानुल्ला खाँ वग़ैरा अंगरेजों के खिलाफ़ थे। इन लोगों ने अमीर को ऐसा तो न करने दिया, फिर भी मौलाना को गिरफ़्तार करके काबुल की जेल में तो डाल ही दिया गया। मौलाना ने जेल से भी अपने काम को जारी

रक्खा और वह अफ़ग़ानिस्तान की उस पार्टी को बराबर मदद करते रहे, जो अंगरेजों के खिलाफ़ थी।

कुछ दिन बाद १६ फ़रवरी सन् १९१६ को अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ अंगरेजों से मिले रहने की अपनी पालिसी के कारन क़त्ल कर दिये गए और अमानुल्ला ख़ाँ काबुल की गद्दी पर बैठे। अमानुल्ला ख़ाँ ने सबसे पहला काम यह किया कि उबेदुल्ला साहब और उनके साथियों को जेल से छोड़ दिया और मौलाना से अपने राजकाजी मामलों में भी सलाह लेने लगे।

इस वक्त तक यूरोप की बड़ी लड़ाई ख़त्म हो चुकी थी, जिसमें हालाँकि अंगरेज जीत गये थे लेकिन उनकी तमाम ताक़त ख़र्च हो चुकी थी। इधर हिन्दुस्तान में रौलट बिल के खिलाफ़ सत्याग्रह चालू था और पंजाब में तो सिर्फ़ मार्शलला के बल पर हुकूमत चलाई जा रही थी। उबेदुल्ला साहब ने महसूस किया कि अगर इस वक्त काबुल हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दे तो काबुल और हिन्दुस्तान दोनों ही अंगरेजों के पंजों से छूट सकते हैं। उन्होंने बादशाह अमानुल्ला ख़ाँ साहब के सामने अपना यह इयाल रक्खा। इसका यह नतीजा हुआ कि ६ मई सन् १९१६ को यकायक अफ़ग़ानिस्तान ने अंगरेजों के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। इस ऐलान के होते ही सरहद के आज़ाद क़बीले भी मौलाना उबेदुल्ला साहब के एक दूसरे साथी तुरंग-जई के हाजी साहब की रहनुमाई में अंगरेजों के खिलाफ़ खड़े हो गए। यह लड़ाई २४ जुलाई तक चली। इसके बाद अंगरेजों को अफ़ग़ानिस्तान से सुलह करनी पड़ी, जिसके मुताबिक़ अफ़ग़ानिस्तान की मुकम्मल आज़ादी मंज़ूर की गई और उसे दूसरे दूसरे मुल्कों से बिना अंगरेजों की इजाज़त लिये अपने सम्बन्ध कायम करने का इत्तिहार दिया गया। इसके बदले में अंगरेज सरकार की तरफ़ से यह शर्त रक्खी

गई कि काबुल की सरकार मौलाना उबेदुल्ला को कोई सियासी काम काबुल में नहीं करने देगी। इस शर्त का नतीजा यह हुआ कि मौलाना उबेदुल्ला ने काबुल हमेशा के लिये छोड़ दिया। काबुल की सरकार मौलाना की तमाम जरूरतों को पूरा करने के लिये तय्यार थी, लेकिन मौलाना उबेदुल्ला साहब के दिल में तो हिन्दुस्तान की आजादी की चाह थी। इस लिये वह इस शर्त को मंजूर ही कैसे कर सकते थे। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि काबुल छोड़ते ही उनको सख्त तकलीफें, खास कर रुपये पैसे की, भारी तंगी उठानी पड़ेगी। लेकिन उन्होंने कुछ दिन बाद ही काबुल छोड़ दिया। इसी बीच उन्होंने एक खास काम यह भी किया था कि काबुल में कांग्रेस की एक शाख कायम कर दी जिसको आल इन्डिया कांग्रेस कमेटी ने अपने गया सेशन में मंजूर भी कर लिया। कांग्रेस की यह पहिला शाख थी जो हिन्दुस्तान से बाहर किसी दूसरे मुल्क में कायम हुई थी।

काबुल छोड़ने के बाद मौलाना उबेदुल्ला रूस पहुँचे और करीब सात महीने तक मास्को में रहकर कम्युनिज्म के उसूलों को पढ़ते और समझते रहे। लेकिन वह कम्युनिस्ट पार्टी में शरीक न हो सके। क्योंकि खुदापरस्ती और दूसरी मजहबी बातों के लिये इस कम्युनिज्म में कोई गुंजायश उनको न दिखलाई दी। इसके बाद वह तुर्की पहुँचे और वहां करीब तीन साल तक रहे। यहां उन्होंने 'पैन इस्लामिक' की तहरीक पर काफ़ी गौर किया। लेकिन उसमें कामयाबी की कोई उम्मीद दिखाई नहीं दी। आखिर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि इन्डियन नेशनल कांग्रेस में ही इमलाम की मजहबी तहरीक को भी शरीक कर दिया जाय। इस पर उन्होंने एक किताब लिखी जो तुर्की में ही छपी। इसी ज़माने में लाला लाजपतराय और डाक्टर अन्सारी साहब भी घूमते घूमते तुर्की पहुँचे। मौलाना उबेदुल्ला हिन्दुस्तान के इन दोनों नेताओं से मिले। इसके कुछ दिन बाद ही इटली जाकर वह पं० जवाहरलाल

जी से भी मिले और उनसे भी अपने इस प्रोग्राम पर बातचीत की। इस प्रोग्राम की खास बात यह थी कि उसमें अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया था। जवाहर लाल जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में मौलाना के इस प्रोग्राम को "हिन्दू मुसलमानों के सवाल को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश" बताया है।

इसके बाद मौलाना कुछ दिनों तक इसी तरह एक मुल्क से दूसरे मुल्क में घूमते रहे। न पाम में पैसा, न कोई साथी और न कोई हमदर्द। ब्रिटिश हुकूमत के खुफिया हर वक्त मौलाना के साथ लगे रहते थे और परेशान करते रहते थे। पर इन तकलीफों के बावजूद मौलाना अपनी धुन में लगे रहते थे।

कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि मक्का में एक खिलाफत कानफ्रेंस होने वाली है जिसमें हिन्दुस्तान के नुमाइन्दे भी हिस्सा लेंगे। मौलाना ने इस मौके पर मक्का पहुँचना जरूरी समझा और वह इटली के रास्ते मक्का के लिये चल पड़े। वह जब मक्का पहुँचे, तब तक कानफ्रेंस खत्म हो चुकी थी और हिन्दुस्तान के नुमाइन्दे भी वहाँ से चल दिये थे। इसके बाद मौलाना ने मक्का में ही रहना तय किया और यहीं पढ़ना पढ़ाना शुरू कर दिया।

सन् १९३६ में कांग्रेस ने मौलाना को हिन्दुस्तान आने की इजाजत देने के लिये आवाज उठाई। कुछ दिन बाद सिन्ध में खान बहादुर अल्लाबख्श की सरकार बनी और कांग्रेस को अपनी इस तहरीक में कामयाबी हुई। १ नवम्बर सन् १९३७ को ब्रिटिश हुकूमत से मौलाना को यह इत्तला मिली कि वह हिन्दुस्तान आ सकते हैं। १ जनवरी सन् ३८ को मौलाना ने पासपोर्ट भी हासिल कर लिया और वह हज करके करीब २२ साल बाद अपनी प्यारी जनम भूमि की गोद में वापस आ गए। यहाँ आकर पहिले वह अपने तमाम पुराने साथियों से मिले और उसके बाद दिल्ली में रह कर शाह बलीउल्लाह के उसूलों का प्रचार

करना उन्होंने शुरू कर दिया, जो वह अपनी आखिरी साँस तक करते रहे। जिलावतनी की तकलीफें और परेशानियाँ उनके देशभक्ती के जज्बे को कम नहीं कर सकी थीं।

मौलाना का इन्तकाल २१ अगस्त १९४४ को दीनपुर (भावलपुर) में हुआ। अपने आखिरी वक्त तक वह हिन्दू मुसलिम एकता के ज़बरदस्त हामी रहे। वह अक्सर कहा करते थे कि सबसे बड़ी खुदापरस्ती यही है कि हम सभी इन्सानों से, फिर चाहे वह किसी भी कौम या मज़हब के हों, सच्चे दिल से मुहब्बत करें। अपने एक मज़मून में उन्होंने अपने इस खयाल को ज़ाहिर करते हुए लिखा था—

“ईमान बेइलिह्लाह या खुदापरस्ती की एक मंज़िल इन्सानियत दोस्ती भी है। अगर आदमी यह मानता है कि सारे इन्सान उसी के पैदा किये हुए हैं। और उसको खालिक से इक़ीकी मुहब्बत है, तो लाज़मी है कि उसे उसकी मखलूक से भी मुहब्बत हो और अगर उसे उसकी मखलूक से मुहब्बत नहीं, तो यह समझिये कि वह खुदा की मुहब्बत के दावे में सच्चा नहीं। हमारे सूफ़ियायकराम ने तो खुदापरस्ती की अमली शकल में इन्सानियत दोस्ती को ही असल दीन करार दिया था। उनका तो यह अक़ीदा हो गया था कि जिसे सिर्फ़ अपने ग़िरोह और जमात से मुहब्बत है और जो दूसरों को, ज़ा' हम-अक़ीदा नहीं हैं, नफ़रत की निगाह से देखता है, वह सच्चा मूहिद और खुदापरस्त ही नहीं है।”

काश ! आज का हिन्दुस्तान अपने इस देशभक्त शहीद के इन सोने के हारों में लिखे जाने लायक लफ़्ज़ों का असली मरम समझ सके और उन पर अमल कर सके।

हाजी फज़ल वाहिद

हिन्दुस्तान की पच्छिमी उत्तरी सरहद पर बसा हुआ क़वाइली इलाक़ा और उसमें रहने वाली पठान क़ौम हमेशा इस बात के लिये मशहूर रही है कि उसने कभी पूरी तरह से न तो अंगरेज़ों की गुनामी ही मंज़ूर की और न उसने कभी ब्रिटिश हुकूमत को चैन से ही बैठने दिया। अंगरेज़ों ने शुरू से ही वहां पर अपनी पूरी फ़ौजी ताक़त लगाई और अपनी आदत के मुताबिक़ पठानों में फूट डालने और उनके फुसलाने, ललचाने की भी ग़ालमी बरती। लेकिन पठान किसी न किसी सरदार की मातहतता में अंगरेज़ों के खिलाफ़ बग़ावत करते ही रहे। अंगरेज़ों के प्रचार ने पठानों की इस आज़ादी की लड़ाई को लूट मार के नाम से बदनाम किया और उनके बहादुर नेताओं को भी लुटेरे और डाकू की शक्ल में जनता के सामने पेश किया। यही वजह है कि हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब भी, जिनको आम जनता 'तुरंगज़ई के हाजी' के नाम से ही जानती पहिचानती है, हमारे नज़दीक़ सरहद के और लुटेरे क़वाइली सन्दरों की तरह फ़क़त एक हिस्मतवर लुटेरे सरदार ही बन कर रह गए, और उनकी शख्सियत की बलन्दी और हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में उनकी अहमियत को सिर्फ़ इन्ने गिने लोग ही जान सके।

हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब दर असल वलीउल्लाही आन्दोलन के ही एक नेता थे, जिनकी पीरी मुरीदी का सिलसिला वलीउल्लाही जमात की उस शाख़ में मिलता था जो सन् १८२४ में सय्यद अहमद साहब बरेलवी की लीडरी में अंगरेज़ों के दोस्त सिक्खों से लड़ने के लिये सरहद पर चली आई थी। सय्यद अहमद साहब के मरने के बाद

उनके शागिर्दों ने उनके काम को जारी रखता और जब सन् १८४६ में सरहद का यह इलाका अंगरेजों की हुकूमत में आ गया, तो सलियाना नाम के पहाड़ी मुकाम पर उन्होंने अपनी छावनी बना कर अंगरेजों से लड़ना शुरू कर दिया। सन् १८५८ में अंगरेजों ने जब इस छावनी को बर्बाद कर दिया तो यहीं के लोग पेशावर से उत्तर पूरब की तरफ बसे हुए मलका गांव में जाकर रहने लगे। इस पर सन् १८६३ के अवतूर महीने में अंगरेजों ने करीब ५००० फौज लेकर मलका पर भी चढ़ाई कर दी और दो महीने की घनघोर लड़ाई के बाद मलका को तहस नहस कर दिया। इसके बाद इन लोगों को, जो अपने को 'मुजाहिदीन' कहते थे, बिखर जाना पड़ा और उन्होंने अलग अलग कबीलों में जाकर अंगरेजों से लड़ने के लिये अलग अलग संगठन बनाने शुरू कर दिये। इन लोगों में से ही एक थे मौलाना नजमुद्दीन साहब, जिनका सरहद की तवारीख में 'मुल्ला हुदा' के नाम से जिक्र मिलता है और जिन्होंने अपनी जिन्दगी भर कभी अंगरेजों को चैन से नहीं बैठने दिया।

हाजी फ़जल वाहिद साहब इन मुल्ला हुदा के ही शागिर्द और खलीफ़ा थे इस लिये जब मुल्ला हुदा का इन्तकाल हुआ, तो उनके तमाम शागिर्दों और मुरिदों ने हाजी फ़जल वाहिद साहब को ही अपना नेता चुना। उस वक्त हाजी फ़जल वाहिद साहब अपने तमाग खानदान के साथ अपने गांव तुरंगजई में रहते थे। तुरंगजई पेशावर जिले की चारसदा तहसील में है और सरहदी गान्धी खान अब्दुलग़फ़ार खां साहब के गांव उतमानजई से सिर्फ़ एक मील की दूरी पर है। तुरंगजई गांव के बाशन्दे होने की वजह से ही हाजी फ़जल वाहिद साहब 'हाजी तुरंगजई' के नाम से मशहूर हुए।

अपने गुरु की मसनद पर बैठ जाने के बाद मुजाहिदीन के रिवाज के मुताबिक हाजी फ़जल वाहिद साहब के लिये यह लाजिमी था कि वह

अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दें। उनके दूमे-दूसरे साथियों ने इसके लिये हाजी साहब पर जोर भी बहुत डाला। लेकिन हाजी साहब ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। क्योंकि इस तरह बिना मौका देखे हुए लड़ते रहना वह सिर्फ़ अपनी बरबादी को दावत देना समझते थे। उनका कहना था कि इस तरह की लड़ाई में अभी तक पठान क्रौम अपने हज़ारों सपूतों को खो चुकी है। लेकिन अंग्रेजों की ताक़त और हुकूमत का फैलाव सरहद में बढ़ता ही गया है। इसका साफ़ मतलब यह है कि हम सिर्फ़ लड़ने के लिये ही लड़ते रहे हैं जो अक़लमन्दी और दूरन्देशी की बात नहीं है। इस लिये अब हमको पहिले अपनी तक़त बढ़ानी चाहिये और क़वाइली इलाक़े से बाहर रहने वाले पठानों और ग़ैर पठानों में भी आज़ादी की चाह पैदा करनी चाहिये, जिससे अंग्रेजों से लड़ाई छिड़ने पर हमारे यह भाई हमारे मुक़ाबले में न आवें और हम अंग्रेजी हुकूमत पर कोई करारी चोट कर सकें।

सरहद की तवारीख़ में इस तरह हाजी फ़जल वाहिद साहब पहिले नेता थे, जिन्होंने पठानों की आज़ादी के मसले को पूरे हिन्दुस्तान की आज़ादी के मसले के साथ मिलाकर सोचा और 'जिहाद' के मज़हबी जोश से अलग रह कर उस पर एक सियासी लीडर की तरह ग़ौर किया। यह ठीक है कि अगर इसी तरह की बातें कोई दमग़ लीडर कहता, तो उसके साथी पठान ही, अपने उस लीडर को अंग्रेजों का भेदिया समझते और उसकी बोटी-बोटी उड़ा देते, लेकिन हाजी फ़जल वाहिद साहब की सूझाई, नेकचलनी और खुदा परमती का उनके साथियों पर इतना गहरा असर था कि किसी ने भी हाजी साहब के इस स्वयाल के खिलाफ़ चूँ तक नहीं की और उनके कहने के मुताबक़ चलना मंज़ूर कर लिया। इससे साबित होता है कि शुरू से ही हाजी साहब ने अपने साथियों का कितना यक़ीन हासिल कर लिया था।

इसके बाद हाजी साहब ने पूरे हिन्दुस्तान की सिबासत पर ग़ौर

किया और उन्होंने यह खोज करनी शुरू की कि हिन्दुस्तान की सियासी पार्टियों में कौन सी पार्टी उनकी मदद कर सकती है। उसी वक्त वही उल्लाही जमात के छोटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब भी सरहदी सूबे से अपना ताल्लुक कायम करने की फ़िक्र में थे। नतीजा यह हुआ कि सन् १९०६ के करीब हाजी फ़जल वाहिद साहब और मौलाना महमूदुल हसन साहब में खतों के ज़रिये कुछ जान पहिचान हुई। पहले हाजी साहब ने क़वाइली इज़ाक़े के कुछ लड़कों को पढ़ने के बहाने देवबन्द भेजा, और जब उन लड़कों से यह मालूम कर लिया कि मौलाना महमूदुल हसन साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी सचमुच ही चाहते हैं और उसके लिये सब तरह की क़ुरबानी करने को तय्यार हैं, तो उन्होंने भी मौलाना महमूदुल हसन साहब को अपना नेता मान लिया। इस तरह वही उल्लाही जमात की इन दोनों शाखों का रिश्ता, जो सन् १८२५-२६ में टूट गया था, फिर से कायम हो गया।

इसके करीब दो साल बाद हाजी फ़जल वाहिद साहब ने अपने इलाक़े में मदरसे कायम करने शुरू किये। इन मदरसों में यूँ देखने के लिये तो देवबन्द के मदरसे की तब मंजहबी तालीम होती थी, लेकिन हाजी साहब का इरादा था कि इन मदरसों के ज़रिये ही पठानों में आज़ादी का सन्देश फैलाया जाय। तालीम के लिये उस वक्त तक सरहद में इस तरह का कोई इन्तज़ाम नहीं था। इस लिये पठानों ने हाजी साहब के इस काम को बहुत पसन्द किया और ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब तो पहले पहल इन मदरसों की वजह से ही क़ौमी काम के मैदान में आए। इसी लिये ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब आज भी हाजी फ़जल वाहिद साहब को अपना और तमाम सरहद का सबसे पहिला सियासी पेशवा मानते हैं।

हाजी साहब के यह मदरसे कुछ दिन तक तो चले, लेकिन उसके

बाद ही अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के एक विद्यार्थी अनीस अहमद के जरिये अंगरेजों को यह मालूम हो गया कि हाजी साहब का कुछ ताल्लुक देवबन्द के मदरसे से भी है। इसका नतीजा यह हुआ कि सरहद के अंगरेज हाकिमों ने उन स्कूलों को ज़बरदस्ती बन्द करा दिया और हाजी साहब पर कड़ी नज़र रखनी शुरू कर दी। उस वक्त कुछ अंगरेज हाकिमों की राय तो हाजी साहब को गिरफ्तार कर लेने की भी थी, लेकिन सरहद पर हाजी साहब का जैसा असर था, उसको देखते हुए अंगरेजों को ऐसा करने की हिम्मत नहीं हुई। सिर्फ़ उन्होंने बहुत से जासूस हाजी साहब के पीछे लगा दिये।

हाजी साहब इस हालत में भी घबराये नहीं और उन्होंने चुपचाप अपने काम को जारी रखा। इतनी निगरानी देने के बावजूद भी मदरसा देवबन्द और मौलाना मद्मदुल हसन साहब से उनका ताल्लुक बराबर बना रहा और वह पठानों में आज़ादी का प्रचार करते रहे।

कुछ दिन बाद ही जब सन् १९१४ में योरप में लड़ाई शुरू हुई, तो मौलाना मद्मदुल हसन साहब ने हाजी साहब को यह सन्देश भेजा कि हम लोगों को इस मौके से फायदा उठाकर अंगरेजों के खिलाफ़ फ़ौरन लड़ाई शुरू कर देनी चाहिये। यह सन्देश पाते ही, २० जून १९१४ को हाजी साहब अपने तमाम ख़ानदान के साथ चुपचाप ब्रिटिश इलाक़े से निकल कर क़बाइली इलाक़े में चले गये और उन्होंने अंगरेजों के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। इस ऐलान का होना था कि क़बाइली पठानों की फ़ौजें जगह जगह इकट्ठी होनी शुरू हो गईं, जिसके सुप्रीम कमान्डर हाजी साहब चुने गए। इन फ़ौजों ने सब से पहिला हमला, १७ अगस्त को अम्बेला दर्रे में होकर ब्रिटिश इलाक़े पर किया और उस पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। जो कई दिनों तक बना रहा। इसके

बाद ऊपरी स्थान की तरफ से एक हमला किया गया और वहाँ की चौकियां से अंगरेजी फौजों को भगा दिया। इसी तरह कई और हमले भी जगह जगह किये जिनमें अंग्रेजों की कई पलटनें सफा कर दी गईं।

इन लड़ाइयों से हाजी साहब इस नतीजे पर पहुँचे कि जब तक हमारे पास रसद और हथियारों का अच्छा इन्तजाम नहीं होगा, तब तक कामवाबी मिलना मुश्किल है। इन चीजों का इन्तजाम करने के लिये हाजी साहब ने मौलाना महमूदुल हसन साहब को लिखा। इस पर मौलाना ने अपने शार्गिद मालवा उबेदुल्ला सिन्वी को काबुल भेजा और खुद मक्का-मदीना पहुँच कर ग़ालब पाशा वगैरा से मिले। लेकिन कुछ ऐसी मुश्कलें समने आईं कि न तो हाजी साहब को काबुल से ही मदद मिल सगी और न टर्की सरकार से ही। नतीजा यह हुआ कि हाजी साहब की तमाम फौजें धीरे धीरे बिल्वर गईं और मुल्क की आज़ादी वा उनका सपना पूरा न हो सका। इसी बीच मौलाना सैफुर्रहमान वगैरा हाजी साहब के कुछ साथी भी अंग्रेजों से जा मिले और उन्होंने हाजी साहब को पकड़वाने के भी जाल रचे, लेकिन हाजी साहब की होशियारी की वजह से वह अपनी इन कोशिशों में कमयाब न हो सके।

योरप की लड़ाई खत्म होते ही एक तरफ तो हिन्दुस्तान में रौलट बिल के खिलाफ़ तहरीक शुरू हुई और दूसरी तरफ काबुल के नए बादशाह अमानुल्ला खां साहब ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी। काबुल से होने वाली इस चढ़ाई में हाजी साहब का पूरा हाथ पड़िले से ही था, क्योंकि कि बादशाह अमानुल्ला से यह तय हो चुका था कि हिन्दुस्तान से अंग्रेज सलतनत खत्म करने में हिन्दुस्तानी काबुल की मदद करेंगे, जिसके बदले में काबुल हिन्दुस्तान की आज़ादी मंज़ूर करेगा। इसी वजह से हाजी फ़जल वाहिद साहब ने इस लड़ाई में भी पूरा हिस्सा लिया और अंग्रेजों को गहरा नुक़सान पहुँचाया। लेकिन कुछ

ही दिन बाद काबुल सरकार और ब्रिटिश सरकार में सुलह हो गई, जिसके मुताबिक़ काबुल की मुकम्मल आज़ादी अंग्रेज़ों ने मंज़ूर कर ली। अपनी आज़ादी मंज़ूर कराकर काबुल की फ़ौज़ें वापस लौट गईं और हाजी साहब को फिर एक बार नाकामयाबी का कड़ुआ फल खाना पड़ा। लेकिन फिर भी वह हिम्मतके साथ अपने उसूनों पर जमे रहे और उन्होंने दूसरे क़बाइली सरदारों की तरह ब्रिटिश हुकूमत से कभी माफ़ी की दरखास्त नहीं की।

इसके बाद सन् १६२०-२१ में तमाम हिन्दुस्तान की तरह सरहद्दों पर भी असहयोग की आंधी उठी, जिसकी रहबरी हाजी साहब के पुगने साथी ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब कर रहे थे। इसी बीच मौलाना महमूदुल हसन साहब भी माल्टा की नज़रबन्दी से रिहा हो कर हिन्दुस्तान वापस आ गये थे और उन्होंने इस तहरीक में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था। हाजी साहब ने भी इस आन्दोलन में दिलचस्पी लेना शुरू किया। लेकिन ब्रिटिश इलाक़े से बाहर रहने के कारण वह इसमें कोई ख़ास हिस्सा नहीं ले सके। हाँ, उन्होंने इतना ज़रूर किया कि जब तक असहयोग चलाता रहा, उन्होंने अपने अस्तर के क़बीलों को शांत बनाए रखा, जिससे अंग्रेज़ हुकूमत क़बाइलियों की बगावत का बहाना लेकर उन पठानों पर ज्यादा जुल्म नहीं कर सकी, जो इस तहरीक में हिस्सा ले रहे थे।

असहयोग की तहरीक के ही ज़माने में हिजरत की भी आंधी उठी, जिसमें हज़ारों मुसलमान हिन्दुस्तान से निकल कर काबुल और दूसरी दूसरी इसलामी हुकूमतों में बसने के लिये चले गये। हाजी साहब ने उस वक़्त हिजरत करने वाले लोगों की पूरी पूरी मदद की और जो लोग उनके इलाक़े से होकर निकले उनकी पूरी तरह से हिफ़ाज़त की। इसी हिजरत के सिलसिले में जब ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब काबुल

गये थे, तब आते जाते हुए हाजी साहब से उनकी भी मुलाकात हुई थी।

इसके बाद हाजी साहब ने पश्तो में एक अखबार निकालना शुरू किया जिसके पश्तो नाम का तरजुमा 'चिनगारी' होता है। यह अखबार शायद पश्तो में निकलने वाला पहिला अखबार था जो पहाड़ियों की ज़िग्री हुई गुफाओं में छपा जाता था। सन् १९२४ से सन् १९२८-२९ तक जब तमाम हिन्दुस्तान की तरह सरहद में भी हिन्दू मुसलमानों के बीच तनाव फैला हुआ था, तब इस अखबार के जरिये हाजी साहब ने लोगों को सही रास्ता दिखाने में बहुत बड़ा काम किया था। इस तरह हाजी साहब एक बाअसर मौलवी, एक ऊँचे दर्जे के कमान्डर और एक दूरन्देश लीडर होने के साथ साथ एक अच्छे अखबार नवीस भी थे।

इसके बाद सन् १९३०-३१ में जब फिर कांग्रेस ने आज़ादी की 'खुदाई' का ऐलान किया, तो हाजी साहब की पूरी हमदर्दी उसके साथ थी। और जब सरकारी अफसरों ने खुदाई खिदमतगारों पर दिल दहलाने वाले जुल्म करने शुरू किये, तो बूढ़े हाजी साहब ने, जून १९३० में, महमन्दों और अफ़रीदियों के एक लश्कर के साथ पेशावर पर हमला बोल दिया, जिसने कुछ समय के लिये तो अँग्रेजों को बड़ी भयानक मुश्किल में डाल दिया था।

सन् १९३० के बाद के किसी साल में हाजी फ़ज़लवाहिद साहब का इन्तक़ाल हो गया। उस दिन सरहद के अँग्रेज़ हाकिम ने वी के चिराग़ बलाये और अभागे हिन्दुस्तानी यह जान भी न सके कि आज उनके देश का एक ऐसा देश भक्त सपूत हमेशा के लिये उनको छोड़ कर चला गया है जो अपनी जिन्दगी भर हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ता रहा और जिसके नाम से हिन्दुस्तान के दुश्मन थर थर झिंटे थे।

वलीउल्लाही तहरीक की तवारिख में हाजी फ़जलवाहिद साहब की एक अलग कहानी है, जो बहुत कम लोगों की नज़रों में आई है। लेकिन उसकी अहमियत से इनकार नहीं किया जा सकता और सरहदी सूबे की सियासत का तो उनको 'पिता' कहा जा सकता है।



मौलाना फजले हक खैराबादी

मौलाना फजलेहक खैराबादी अपने जमाने के एक बड़े रईस थे और इतने बड़े आलिम थे कि इसलामी फनसफे के उस जमाने में दो चार आदमी ही उनका मुकाबला कर सकते थे। अरबी के शायर थे और इम मैदान में अरब तक में उनका लोहा माना जाता था। लेकिन उनकी मौत कालेपानी की एक अंधेरी कोठरी में हुई, क्यों कि उनको अपने देश से मुहब्बत थी और अपने देश पर वह किसी दूसरे की हकूमत बरदाश्त करने को तैयार नहीं थे।

बहुत से कारनों से आज तक इस शहीद का नाम और ज़िन्दगी का हाल रोशनी में नहीं आ सका। लेकिन अब वह जमाना आ गया है, अब हमें अपने इस देशभक्त शहीद को गुप्तनामी से निकाल कर उसे वह इज़्ज़त देनी चाहिये जिसका वह सच्चा हकदार है।

स्तानदान का हाल—मौलाना फजलेहक के बुजुर्ग बहुत पुराने ज़माने में ईरान के किसी सूबे पर हकूमत करते थे। किसी इन्कलाबी तूफान में उनकी वह हकूमत और शान शौकत बह गई और अपनी जान बचाने के लिये उनको हिन्दुस्तान चला आना पड़ा। अपनी आदत के मुताबिक हिन्दुस्तान ने उनको कलेजे से लगाया और फिर उनके नाती पोते कभी कहीं और कभी कहीं बसते उठते आखिर खैराबाद जिला सीतापुर में आकर मुस्तकिल तौर पर रहने लगे। अपनी क़ाब-लियत के बल पर यहाँ उन्होंने एक अच्छी ज़मीन हासिल की और फिर आसपास के इलाक़े में एक बड़े रईस समझे जाने लगे। लेकिन रईस होने पर भी जेशलत से हमेशा दुश्मनी रखी और ऊँचे दर्जे की पढ़ाई लिखाई और बलन्द कैरेक्टर की पूँजी को ही हमेशा अपनी सच्ची

मौलाना फ़जले हक़ ख़ैराबादी

चायदाद समझा। नतीजा यह हुआ कि बादशाह की नज़र में भी वह ख़ानदान आया और मौलाना फ़जले हक़ के दादा शाही नौकरी के सिलसिले में ख़ैराबाद से दिल्ली पहुँच गये। उनके बाद मो० फ़जले हक़ के पिता मौलाना फ़जले इमाम तो आलिमों की महफ़िल के चराग़ समझे जाते थे। वह दिल्ली में ईस्ट इंडिया कम्पनी की तरफ़ से सदरसु-दूर यानी सबसे बड़े जज थे। साथ साथ शौक़ और फ़र्ज़ के तौर पर पढ़ाते भी थे। उनकी लिखी अरबी की कई किताबें अरबी लिट्रेचर में आज भी बहुत इज़्ज़त की नज़र से देखी जाती हैं।

मौलाना का जन्म—मौलाना फ़जलेहक़ का जन्म सन् १७६७ में ख़ैराबाद में हुआ और उनकी परवरिश दिल्ली में हुई। उनके ख़ानदानी रिवाज के मुताबिक़ चार साल की उम्र में उनकी तालीम शुरू हुई। मौलाना के पिता को पढ़ाने का शौक़ तो था ही। वह शाही दरबार में पालकी में जाया करते थे। अक्सर फ़जलेहक़ साहब उनके साथ होते थे और दरबार को जाने आने में जो समय लगता था, उसका उपयोग फ़जलेहक़ साहब की पढ़ाई में होता था। कुछ बड़े हुए तो हिन्दुस्तान के मशहूर इन्क़लाबी और अपने ज़माने के सबसे बड़े आलिम शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के पास पढ़ने के लिये जाने लगे। इनके सहपाठी थे मुफ़ती सदरुद्दीन 'आज़ुदा', जो एक दूसरे रईस के बेटे थे। इन दोनों के मिजाज में शोख़ी और गर्मी तो थी, जैसी कि अक़बर रईसों के बेटों में पाई जाती है, लेकिन शाह अब्दुल अज़ीज़ के मदरसे में पहुँचे तो वहाँ एक दूसरा ही रंग देखा। शाह अब्दुल अज़ीज़ फ़कीर किस्म के आदमी थे। उनका हाल यह था कि जिस दिन फ़जलेहक़ साहब और सदरुद्दीन साहब खुद किताबें लेकर आते उस दिन सबक़ पढ़ा देते थे और जिस दिन नौकर किताबें लेकर आता था, उस दिन पढ़ाने से इन्कार कर देते थे। फिर भी तेज़ ज़हन होने से इन दोनों का वह बहुत प्यार करते थे। मौलाना की याददाश्त बहुत अच्छी थी और फ़लसफ़े की बारीक़ियाँ में

दिमाग खूब चलता था। नतीजा वह हुआ कि सन् १८०६ में सिर्फ १३ साल की उम्र में उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी करली और अपने पिता के शागिर्दों को पढ़ाने लगे।

इसी ज़माने की घटना है, एक बड़ी उम्र के साहब मौलाना के पिता के पास पढ़ने आया करते थे, लेकिन जब फ़जले हक़ साहब अपनी पढ़ाई ख़त्म करके खुद पढ़ाने लगे तो मौलाना के पिता ने अपने इस शागिर्द को भी मौलाना के पास ही भेज दिया। मौलाना ने पहिले ही दिन जब उनको बेहद सुन्नत और कुन्दजेहन देखा, तो फुंफ़ला उठे। किताब फेंक दी और कह दिया कि यह आपके बस का रोग नहीं है, मेहरबानी करके क़ल से तकलीफ़ न कीजियेगा। इस पर वह साहब बहुत रंजीदा हुए और उन्होंने तमाम क़ित्सा मौलाना के पिता को सुनाया। औरन मौलाना की तलबी हुई और जैसे ही मौलाना अपने पिता के सामने पहुँचे, उन्होंने एक थप्पड़ रसीद करते हुए कहा—“बेवकूफ़ ! तु यह नहीं सोचता कि तेरा जैसा दिमाग़ सब कहाँ से पा सकते हैं ? तू मालदार का लड़का ठहरा ! किसी चीज़ की कभी कमी महसूस नहीं की। जिसके पाम बैठा, उभी ने स्वातिरदारी से पढ़ाया। हमेशा अच्छा खाने को, अच्छा पहिनने को मिला। लेकिन इन बेचारों को यह सब कहाँ से मिले ?” मौलाना ने अपनी ग़नती महसूस की और फिर आइन्दा कभी किसी शागिर्द पर नाराज़ नहीं हुए।

सरकारी नौकरी में—जब कुछ और बड़े हुए, तो अंग्रेज़ रेजीडेन्ट की अदालत में सरिश्तेदार हो गये। बादशाह अकबर शाह और रेजीडेन्ट दोनों ही मौलाना को बहुत मुहब्बत की नज़र से देखते थे।

सरकारी नौकर होते हुए भी मौलाना ने पढ़ाने का सिलसिला क़ायम रखवा और इसमें बड़ी दिलचस्पी रखते थे। इसी ज़माने में साधरी का शौक़ हुआ, लेकिन उर्दू फ़ारसी को छोड़ कर अरबी में

शायरी करते थे। मशहूर शायर 'मोमिन' आपके शतरंज के दोस्त थे और ग़ालिब साहब के साथ तो दिन रात का उठना बैठना था। मुफ्ती अब्दुल्हीन साहब से भी ज़िन्दगी भर निभी। इस तरह नौकरी और पढ़ाने से जो वक्त बचता यह तो शतरंज में जाता था या शेर शायरी और लिट्रेचर की चर्चा में। शेर कहने की ऐसी मशक हो गई थी कि चार हजार से ऊपर शेर उन्होंने ने कहे होंगे। मौलाना की शायरी का एक बड़ा हिस्सा अब लिटन ल. हब्रेरी अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में आ गया है और कुछ अब भी इधर उधर फैला हुआ है। इनका कुछ कलाम अरब तक भी पहुँचा और उनको वहाँ बड़ी दाद मिली। अरबी ज़बान और अरबी शायरी पर मौलाना का इतना कबू था कि एक बार अपने उस्ताद शाह अब्दुल अजीज़ से भी उलझ गये। मौलाना ने एक कसीदा शाह साहब को सुनाया। शाह साहब को वह पसन्द आया, लेकिन उसके एक शेर पर उनको एतगज़ था। इस पर मौलाना ने करीब बीस शेर सुखतलिफ़ मशहूर शायरों के अपनी दलील की हिमायत में पढ़ दिये। शाह साहब ने अपनी ग़लती मंज़ूर की और मौलाना को आशीर्वाद देकर बिदा किया।

कुछ दिन बाद दिल्ली में एक नया रेज़िडेन्ट आया, तो उसने अपने महकमे का नाज़िम मौलाना को मुक़रर किया। सन् १८२८ में जब वह विलायत के लिये चला, तो मौलाना नुफ्तानाए गये। लेकिन इसके बाद मौलाना की आफ़मरों से नहीं पट सकी। उस ज़माने के अंग्रेज़ बैसी खुशामद चाहते थे मौलाना वैसी खुशामद नहीं कर सकते थे। इसी ज़माने में शायद मौलाना को पहला बार गुलामी की बुराई महसूस हुई और अंग्रेज़ों की नौकरी उनको ज़िल्लत मालूम होने लगी।

दिल्ली से बाहर—इसी नागज़ी की वजह से मौलाना को सरकार चकील बना कर इलाहाबाद भेजा गया। उस ज़माने में बहादुर शाह 'अफ़र' वली अहद यानी युवराज थे। मौलाना जब दिल्ली से जाने लगे

तो उन्होंने अपना कीमती शाल मौलाना को उड़ा दिया और आँखों में आँसू भर कर विदा किया। मौलाना कुछ दिनों सरकारी वकील की हैसियत से काम करते रहे, लेकिन अंग्रेजों की तरफ से अब वह बददिल हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दिनों बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया।

रियासतों में—मौलाना के इस्तीफे की खबर जैसे ही फैली, भज्जभर के रईस नवाब फ़ैज मुहम्मद साहब ने पांच सौ रुपया माहवार पर और न मौलाना को अपने यहाँ बुला लिया। मौलाना कुछ दिनों वहीं रहे। इसके बाद अलवर चले गये। वहाँ भी जी न लगा तो सहारनपुर पहुँचे और फिर टोंक के नवाब वजीरुद्दौला के यहाँ भी कुछ दिन तक रहे। कुछ लोगों का खयाल है कि मौलाना इतनी रियासतों में इसलिये घूमे कि अंग्रेजों के खिन्ना इनको लड़ने के लिये अमादा कर सकें। लेकिन इन रईसों और नवबों का खून सँद हो चुका था, जिससे मौलाना को बड़ी निगशा हुई और फिर लखनऊ में आकर बड़े जज के ओहदे पर काम करने लगे।

लखनऊ में हम वक्ता नवाब वाजिद अली शाह की हुकूमत थी, लेकिन धीरे धीरे अंग्रेजों के पंजों में यह रियासत भी कमती चली जा रही थी। नवाब साहब को अपनी रंग रेलियों से ही फुरमत नहीं थी, फिर राजकाजी कामों में कौन दिमाग खर्च करे। नतीजा यह हुआ कि मौलाना का दिल यहाँ से भी ऊब गया और अच्छी भली नौकरी ढ़ोंड कर रामपुर की राह ली। वहाँ कुछ दिनों तक नवाब यूसुफ़ अली को पढ़ाते रहे। इम्मी ज़माने में यानी १८५५ के आस पास नवाब यूसुफ़ अली रामपुर की गद्दी पर बैठे तो मौलाना ने कोशिश करके अपने दोस्त ग़ालिब साहब की राहरेम रामपुर रियासत से करा दी और नवाब साहब ग़ालिब के पास अपनी ग़ज़लें इस्लाह के लिये भेजने लगे। इसके बाद जब दिल्ली में कुछ सरगमों दिखाई दी और बादशाह की तरफ से राजाओं

नवाबों के पास खन आने शुरू हुए तो मौलाना अलवर पहुँचे और उन्होंने राजा को बादशाह का साथ देने के लिये समझाया। लेकिन राजा किसी तरह राजी नहीं हुआ।

आजादी की लड़ाई के मैदान में—मौलाना अब खामोश नहीं बैठ सकते थे। वह फ़ौरन दिल्ली की तरफ़ चल दिये और रास्ते में बड़े बड़े ज़मींदारों से मिलते गये और उनको यह समझाते गये कि इस वक्त आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने में ही उन की भलाई है। मौलाना फ़ज्रुल्लेहक मौ० अहमद अलीशाह दिलावर जग मद्रासी से भी मिले, यह मौलाना अहमदुल्ला फ़ैजाबादी के नाम से भी मशहूर हैं और अवध की बगावत में यह जिस बहादुरी से दस महीने तक अंग्रेज़ों से लड़ते रहे उसने इतिहास में इनका नाम अमर कर दिया है।

दिल्ली में—कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि दिल्ली अब आजाद हुकूमत के हाथ में है तो वह फ़ौरन दिल्ली पहुँचे और बादशाह से मिले। शाही दरबार के मुन्शी जीन लाल के रोज़ नामचे में कई जगह मौलाना का जिक्र मिलता है और उससे यह भी मालूम होता है कि मौलाना बराबर बादशाह के मशविरों में शरीक हुआ करते थे।

लेकिन उस वक्त दिल्ली की जो हालत थी उससे मौलाना को बड़ी तकलीफ़ हुई। खुद शाहज़ादों की भी हालत यह थी कि दिन रात लूट खसोट पर उनकी नज़र रहती थी। गुन्डे, बदमाशों की बग़ल आई थी और नाकामिल लाग बड़े-बड़े ओहदों पर कब्ज़ा करके बैठ गये थे।

लेकिन इस हालत में भी रुहेलों की फ़ौज, जिसका जनरल बख़्त ख़ाँ था, सच्चे दिल से आर सच्चे जज़बे से लड़ाई में शरीक थी। इसी तरह का भरोसे लायक एक दूसरा संगठन मुजाहिदों का था, जिसकी बागडोर वलीउल्लाही मौलवियों के हाथों में थी। यह लोग अक्सर

मौलाना से मिलते रहते थे। खास तौर पर जनरल बख्त ख़ाँ मौलाना से मशविरा करके ही कोई काम करते थे, लेकिन शाहजादा मिर्जा मुग़ल के सामने बेचारे बख्त ख़ाँ की कुछ चलती नहीं थी। कुछ दिन बाद हालत वहाँ तक बिगड़ी कि मिर्जा इलाही बख़्श ने बादशाह से कम्पनी के पास माफ़ी का ख़त तक भिजवा दिया, लेकिन अंग्रेज़ों ने उस पर भरोसा नहीं किया।

आखिर बख्त ख़ाँ के कहने पर मौलाना खुद आगे बढ़े। जुमे की नमाज़ के बाद उन्होंने एक नम्बी तक़रीर ज़ामा मसजिद में की और एक फ़तवा पेश किया, जिसके मुताबिक़ इस लड़ाई में शरीक होना हर एक मज़हबी आदमी का फ़र्ज़ था।

इस फ़तवे का जादू जैसा असर हुआ और करीब नव्वे हज़ार सिपाही बादशाह के भंडे के नीचे आ गये। लेकिन शाही ख़ानदान के होने के ज़ोम में जो लोग थे, उन्होंने इसका कोई फ़ायदा नहीं उठाया। हालत यह थी कि मिर्जा इलाही बख़्श जैमे दगाबाज़ की पूछ थी और सच्चे वफ़ादारों को कोई पूछता भी नहीं था। मौलाना ने अपनी तरफ़ से काफ़ी ज़ोर लगाया। लेकिन बेचारे अकेले क्या करते। आखिर १६ सितम्बर १८५७ को कम्पनी की फ़ौज ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

ख़ाना बंदोशी की ज़िन्दगी — दिल्ली पर कम्पनी का क़ब्ज़ा होते ही मौलाना के तमाम अरमान मिट्टी में मिल गये। उसके बाद जो खूँरेज़ी दिल्ली में हुई उसने एक बार क़यामत का नक़शा आँखों के सामने खींच दिया। मौलाना ने जो फ़तवा दिया था उसकी ख़बर मुख़बिरी के ब्रिये अंग्रेज़ों को लग चुकी थी और मौलाना की बड़े ज़ोरों से तलाश की जा रही थी। इसी हालत में २४ सितम्बर १८५७ को मौलाना अपने ख़ानदान को लेकर चुनचाप दिल्ली से निकल गये और भीकमपुर ज़िला अलीगढ़ के नवाब साहब के यहाँ पनाह ली। वहाँ करीब १८ दिन रहे।

इसके बाद नवाब साहब ने भीकमपुर से करीब ८ मील दूर साँकरा के घाट से मौलाना और उनके खानदान को बदायूँ की तरफ़ उतरवा दिया ।

मौलाना करीब दो साल तक इधर-उधर खानाबदोशी की जिन्दगी बिताते रहे । लेकिन कुछ ही दिन बाद मल्का विक्टोरिया का आम माफ़ी का एलान हुआ । इस पर मौलाना जाहिर हो गये और अपने घर ख़ैराबाद में जाकर रहने लगे ।

गिरफ्तारी और सज़ा—लेकिन मौलाना सरकारी फ़ेहरिस्त के उन लोगों में थे, जिनको माफ़ी नहीं दी गई थी । इसलिये कुछ ही दिन बाद मौलाना गिरफ्तार कर लिये गये और लखनऊ जाकर उन पर मुक़दमा चलाया गया ।

मौलाना ने खुद ही अपनी पैरवी की । इधर जज मौलाना का एक पुराना शार्गिंद था और मुख़बिर पर भी कुछ ऐसा असर पड़ा कि शनाख़्त के वक्ता उसने कह दिया कि फ़तवा देने वाले फ़ज़लेहक़ यह नहीं हैं । इनको मैं नहीं जानता ।

इस तरह मौलाना के छूटने की पूरी उम्मीद थी । लेकिन मौलाना को यह भूट ग़वार न हुआ । उन्होंने अपने आख़िरी बयान में कहा कि मुख़बिर ने किसी वजह से मेरी शनाख़्त नहीं की है, लेकिन फ़तवा मैंने ही दिया था और आज भी मेरी वही राय है ।

जज और ग़वाह हैरान थे और घर वाले परेशान थे, लेकिन मौलाना ने बात बदलने से इन्कार कर दिया । मौलाना को उम्मीद थी कि फाँसी की सज़ा मिलेगी, लेकिन जज ने रिआयत की ओर कालेपानी की सज़ा दी । मौलाना की यह हिम्मत देखकर सब दंग रह गये ।

कालेपानी में—मौलाना कालेपानी पहुँचा दिये गये । वहाँ और भी बहुत से मौलवी थे । उन्होंने इनको हाथों हाथ लिया । लेकिन मौलाना

वहाँ दिन रात तड़पते रहते थे। कालेपानी में लिखी हुई उनकी किताब 'सूरतुल हिन्दि'या' ओसुओं का एक बहता हुआ चश्मा है जिसमें एक-एक हरफ में मौलाना की तड़प मौजूद है। यह किताब कपड़ों पर कायलों से लिखी गई और बड़ी मुश्किल से हिन्दुस्तान तक आई। मौलाना ने उसमें अपनी तकलीफों का जो नक्शा खिंचा है, उसे पढ़कर आज भी झुरझुरी आने लगती है।

इधर मौलाना की रिहाई की कोशिश भी हो रही थी। आखिर मौलाना के बेटे शम्सुलहक रिहाई का परवाना लेकर अन्डमन रवाना हुए और जहाज से उतर कर जब शहर में गये तो देखा कि एक जनाजा चला आ रहा है जिसके साथ बहुत भीड़ है। पूछने पर मालूम हुआ कि कल १२ सफ़र सन् १२७८ हिजरी यानी सन् १८६१ ईसवी में मौलाना फ़जलेहक साहब का इन्तिकाल हो गया और अब दफ़न करने के लिये ले जाया जा रहा है।

मुसाफ़िर अपनी आखिरी मंज़िल पर पहुँच चुका था।

मौलवी अहमद शाह

सन् १८५७ की हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई की बात अक्सर यह कहा जाता है कि यह लड़ाई सिर्फ़ उन राजाओं, नवाबों और सामन्तों की बगावत थी, जिनकी जायदादें या भत्ते कम्पनी की सरकार ने ज़ब्त कर लिये थे। इसी लिये आम जनता का इस लड़ाई में कोई ख़ास हिस्सा नहीं था।

किसी हद तक यह बात ठीक भी है, लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस सामन्तवादी ज़माने में भी हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे दूरन्देश देशभक्त मौजूद थे, जिन्होंने इस कमज़ोरी को भाँप लिया था और आम जनता का पूरा सहयोग लेने की कोशिश की थी। ऐसे दूरन्देश देशभक्त नेताओं में एक ख़ास नाम मौलवी अहमद शाह का है।

मौलवी अहमद शाह फ़ैजाबाद ज़िले के एक बड़े ज़मींदार थे, लेकिन ज़मींदारों की ऐश परस्ती उनको छू भी नहीं गई थी। अपने अच्छे चाल चलन और राजकाजी व मज़हबी जानकारी के लिये वह इलाक़े भर में मशहूर थे और राजाओं व नवाबों के महलों से लेकर किसानों की मामूली भोंपड़ियों तक में उनका नाम बड़ी इज़्ज़त से लिया जाता था।

मौलवी अहमद शाह न तो सिर्फ़ मज़हबी किताबों में ढूँढे रहने वाले मौलवी थे, और न रिआया से टैक्स वसूल करके उस पर गुलछरें उड़ाने वाले ज़मींदार। मुल्क की सियासत से भी उनको गहरी दिलचस्प थी और उनको इस बात से बड़ा दुख होता था कि अंग्रेज़ों की ताक़त हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे बढ़ती चली जा रही है और कल अपने ही

स्वार्थवश होकर अपने इस मुल्क को गुलाम बनाने में अंग्रेजों की मदद कर रहे हैं। वह जब तब अपने इस खयाल को जाहिर भी किया करते थे। लेकिन उस जमाने में आम जनता को सियासत से कोई दिलचस्पी नहीं थी और राजाओं नवाबों को ऐसी बातें सुनने से भी डर लगता था।

लेकिन सन् १८५६ में जब लार्ड डलहौजी ने निहायत बेशर्मी के साथ अवध के इलाक़े को कम्पनी के अधिकार में ले लिया और नवाब वाजिद अली शाह को कैद करके कलकत्ते भेज दिया गया तो मौलवी अहमद शाह इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह एक एक करके हर एक नवाब और राजा के साथ इसी तरह का बर्ताव होगा और पूरा देश अंग्रेजों के आधीन हो जायगा। इसके साथ ही मौलवी साहब ने यह भी महसूस किया कि आज़ादी की लड़ाई तब तक कामयाब नहीं हो सकेगी, जब तक कि इस देश की पूरी जनता इसमें हिस्सा न ले। इसीलिये न तो उन्होंने राजाओं नवाबों की ख्योदियों के चक्कर लगाये और न वलीउल्लाही जमाअत के नेताओं की तरह सिर्फ मुसलमान जनता तक ही अपने प्रचार को महबूद रक्खा। मौलवी अहमद शाह ने हिन्दू मुसलमानों में एक साथ देश की आज़ादी के नाम पर अंग्रेजों के खिलाफ़ हथियार उठाने का प्रचार शुरू कर दिया। सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई के दूसरे नेताओं और मौलवी अहमद शाह में यही खास फ़र्क़ है, जो उनको कुछ ज़्यादा इज्जत का हक़दार बना देता है। काश, कुछ और नेता मौलवी अहमद शाह का साथ देते, तो शायद १८५७ की लड़ाई इस तरह से और इतनी जल्दी नाकामयाब नहीं होती।

मौलवी अहमद शाह के प्रचार का ढंग यह था कि वह लखनऊ से आगरा तक के बीच बराबर दौरे करते रहते थे और दस दस हजार आदमियों की भीड़ उनकी तक्ररीर सुनने के लिये इकट्ठी होती थी। मौलवी अहमद शाह उनको बतलाते थे कि अंग्रेज किस तरह इस

मुल्क में बढ़ने गये और अगर पूरा मुल्क उनके कब्जे में चला गया तो उसका नतीजा आम जनता के लिये क्या होगा। इस तरह यह तक्करीरें सौ फीसदी सियासी तक्करीरें होती थीं और मौलवी अहमद शाह की ज़बान में कुछ ऐसा जादू था कि कई कई घंटे तक यह हज़ारों आदमी बुत बने हुए उनकी तक्करीरें सुनते रहते थे और मुल्क की बेचसी पर आँसू बहाते रहते थे। उस ज़माने में मौलवी अहमद शाह शायद पहिले आदमी थे, जिन्होंने अपने प्रचार का यह तरीका अपनाया था।

इसी ज़माने में मौलवी अहमद शाह ने बहुत सी छोटी छोटी किताबें भी लिखीं, जो पढ़े लिखे हल्के में बड़ी तादाद में बँटी गईं। इन किताबों में भी वही बात थी, जो मौलवी साहब की तक्करीरों में होती थी। इस तरह हज़ारों लाखों आदमियों के दिल में मौलवी अहमद शाह ने देशभक्ती का सच्चा जज़्बा पैदा कर दिया।

उस ज़माने में अंग्रेजों के मुखविरों का जाल सिर्फ़ राजाओं नवाबों के राजदरबारों और महलों तक ही महदूद था, इसलिये मौलवी अहमद शाह का यह खुला प्रचार भी कुछ महीनों तक उनकी नज़र में न आ सका। लेकिन जब आग ज़्यादा बढ़ी और उसकी लपटें अंग्रेजों को भी लगने लगीं, तो उन्होंने मौलवी अहमद शाह को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया। अवध की पुलिस ने अंग्रेजों का यह हुक्म मानने से इन्कार कर दिया, इस पर फौ। भेजी गई और मौलवी साहब गिरफ्तार कर लिये गये, इसके साथ ही तुग़्त मौलवी साहब का मुक़दमा भी कर लिया गया और उनको फाँसी की सजा सुना दी गई। फाँसी की तारीख तक के लिये मौलवी साहब को फैज़ाबाद जेल में बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमद शाह की गिरफ्तारी और उनकी फाँसी की सज़ा की ख़बर जनता को जैसे ही मिली, वैसे ही इलाक़े-भर में आग सी लग गई। फैज़ाबाद शहर में उस वक़्त दो पैदल पलटन, कुछ सवार और कुछ तोपखाना था, जो इस वक़्त तक अंग्रेजों का पूरी तरह वफ़ादार था।

लेकिन मौलवी अहमद शाह की गिरफ्तारी की खबर पाते ही वह देश के दफ़्तरदार हो गये और मौलवी अहमद शाह हिन्दुओं को भी कितने प्यारे थे, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि मौलवी साहब की गिरफ्तारी के विरोध में सबसे पहिले हथियार उठाने वाला एक हिन्दू सूबेदार दिलीप सिंह था, जिसने फ़ैजाबाद के तमाम अंग्रेज़ अफ़सरों को कैद कर लिया और फ़ैजाबाद की आज़ादी का एलान कर दिया।

इसके बाद हिन्दुस्तानी सिपाहियों और जनता की एक बड़ी भीड़ जेलख़ाने पर पहुँची और उसने दीवार तड़कर मौलवी अहमदशाह को बाहर निकाल लिया। मौलवी साहब की बेडियों काट डाली गईं और जनता व सिपाहियों ने उनको अपना नेता चुन कर उनकी ही मातहतों में काम करने का फैसला किया। इस तरह फ़ैजाबाद के इलाक़े की बागडोर पूरी तरह मौलवी साहब के हाथ में आ गई।

उस वक्त मौलवी साहब ने जो पहिला काम किया, उससे न सिर्फ़ मौलवी साहब का बल्कि पूरे हिन्दुस्तान का सर ऊँचा होता है। यह काम था अंग्रेज़ अफ़सरों और उनके बालबच्चों को पूरी हिफ़ाज़त के साथ फ़ैजाबाद से ख़ाना करना। यह अंग्रेज़ क़श्तियों के ज़रिये फ़ैजाबाद से ख़ाना किये गये और रास्ते के लिये उनको काफ़ी रसद भी दे दी गई। जो लोग पच्छिमी पंजाब के हिन्दुओं पर होने वाले जुल्मों का बदला पूरबी पंजाब के मुसलमानों से लेना जायज़ बताते हैं और पूरबी पंजाब के मुसलमानों पर होने वाले जुल्मों का बदला पच्छिमी पंजाब के हिन्दुओं से लेना ठीक समझते हैं, उनको मौलवी अहमदशाह के इस कारनामे का आँख खोल कर पढ़ना चाहिये, जिन्होंने उन अंग्रेज़ों की ही हिफ़ाज़त की, जो उनको फाँसी के तख़्ते पर भेज चुके थे। अंग्रेज़ों के साथ ठीक यही बर्ताव मौलाना अहमदशाह के दूसरे साथियों यानी शाह-गंज के ताल्लुक़दार राजा मानसिंह, सालोनी के ज़मींदार सरदार रुस्तम शाह और काला के राजा हनुमन्त सिंह ने भी किया। अंग्रेज़ों का फ़ैजाबाद

से निकाल देने के बाद ६ जून १८५७ को यह एलान कर दिया गया कि फैजाबाद के इलाके से कम्पनी की हुकूमत खतम हो चुकी है और अब वह वाजिद अली शाह की हुकूमत में है। इसके साथ ही पूरे इलाके का ऐसा इन्तजाम भी कर दिया गया, जिससे गुन्डे और शरारती लोग जो ऐसे ही मौकों की तलाश में रहते हैं, सर न उठा सकें।

इसके बाद जब लखनऊ पर अंग्रेजों ने फिर घेरा डाला, तो मौलवी अहमद शाह अपने हजारों सिपाहियों के साथ लखनऊ में जा कर जम गये। लखनऊ शहर के भीतर नवम्बर सन् १८५७ से लेकर मार्च ५८ तक आजादी की लड़ाई बराबर चन्ती रही और मौलवी अहमद शाह बराबर उसमें हिस्सा लेते रहे। ११ मार्च सन् १८५८ को जब कैम्पबेल की फ़ौज, गोरखों की फ़ौज और पूरबी हिस्से से आने वाली अंग्रेजी फ़ौजों ने लखनऊ पर एक साथ चढ़ाई की थी उस वक्त भी मौलवी अहमद शाह लखनऊ के सेनापतियों में एक खास हैसियत रखते थे। फ़ौज को कमान करने की उनकी काबलियत कितनी बड़ी चढ़ी थी इसका जिक्र करते हुए अंग्रेज लेखक 'होम्स' ने लिखा है—

“फैजाबाद का मौलवी अहमदुल्लाह एक ऐसा आदमी था, जो जज्बात और काबलियत दोनों के लिहाज से एक बड़ी तहरीक को चलाने और एक बड़ी फ़ौज की कमान संभालने के लिये सब तरह से योग्य था।”

लेकिन इन दिनों ही दिल्ली की तरह लखनऊ में भी हिन्दुस्तानी नेताओं में आपसी फूट और जलन फैलने लगी थी। बजाय काबलियत के ऊँचे खानदान और ऊँची हैसियत को तरजीह दी जाती थी और ऐसे ही लोगों के हाथों में फ़ौज की कमान रहती थी।

यह आपसी फूट और जलन इतनी बढ़ गई थी, कि एक बार लखनऊ की बेगम ने मौलवी अहमदशाह को गिरफ्तार तक कर लिया, लेकिन जब फ़ौज और जनता की तरफ से इसका विरोध हुआ तो मौलवी

साहब छोड़ दिये गये। इससे मौलवी साहब के दिल को धक्का तो लगा पर वह देश की जरूरत को समझते हुए अलग न हुए और बराबर लड़ाइयों में हिस्सा लेते रहे। जितनी बार हिन्दुस्तानी सेना ने आलम बाग पर हमला किया, मौलवी अहमदशाह घोड़े या हाथी के ऊपर हमेशा सबसे आगे लड़ते हुए देखे जाते थे।

१५ जनवरी १८५८ को मौलवी अहमद शाह के एक हाथ में गोली लगी। करीब एक महीने तक वह इसी वजह से चारपाई पर पड़े रहे। लेकिन १५ फरवरी को वह फिर मैदान में आकर जम गये। लेकिन अब अपने लोगों में ही सैकड़ों गद्दर पैदा हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि १४ मार्च को लखनऊ पूरी तरह अंग्रेजों के हाथों में आगया और मौलवी अहमद शाह नवाब ब्रिजसिंह कदर और बेगम हजरत महल के साथ शहर से निकल गये।

मौलवी अहमदशाह के दिल में लखनऊ छोड़ने का बड़ा रंज था, इसलिये थोड़े से साथियों को लेकर एक बार फिर मौलवी साहब लखनऊ पहुँचे और सआदतगंज मुहल्ले में अपना मोर्चा जमा दिया। उस वक्त मौलवी साहब के पास सिर्फ दो तोपें थीं; फिर भी वह देर तक अंग्रेजों की बहुत बड़ी फौज का जम कर मुकाबला करते रहे। लेकिन आखिर में उनके हटना पड़ा। अंग्रेजी फौज ने छै मील तक मौलवी साहब का पीछा किया, लेकिन वह उनके नहीं पासकी। मौलवी साहब फिर साफ निकल गये।

इसके बाद मौलवी साहब लखनऊ के पचास मील के अन्दर अन्दर अंग्रेजों के खिलाफ बराबर लड़ाई चलाते रहे। कुछ दिन बाद वह नाना साहब के साथ बरेली जा पहुँचे। कुछ ही दिनों में दिल्ली और अवध के कुछ और नेता और अवध की बेगम हजरत महल भी बरेली जा पहुँचीं। यह खबर मिलते ही सर कालिन कैम्पबेल अपनी फौज के साथ बरेली जा पहुँचा। नेताओं ने फैसला किया कि बरेली से निकल कर और

रुहेलखण्ड में चारों ओर फैल कर अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई जारी रखी जाय। इसी फैसले के मुताबिक मौलवी साहब ने बरेली से निकल कर शाहजहाँपुर पर मोर्चा जमाया और कुछ ही देर में उस पर कब्जा कर लिया। कैम्पबेल फिर अपनी फौज के साथ शाहजहाँपुर पहुँचा और एक बार तो ऐसा मालूम होने लगा कि इस बार मौलवी साहब अंग्रेजों के फन्दे से नहीं बच सकेंगे। लेकिन मौलवी साहब को घिरा हुआ देख कर रुहेलखण्ड के सभी क्रान्तिकारी नेता, नाना साहब, बेगम हजरत महल, शाहजादा फीरोज शाह और राजा तेजसिंह वगैरा अपनी अपनी फौजें लेकर शाहजहाँपुर पहुँच गये और मौलवी साहब को निकाल लाये। यह घटना साबित करती है कि मौलवी साहब उन नेताओं की नज़र में क्या हैसियत रखते थे।

लेकिन घर के ग़दारों से कौन बच सकता है। मौलवी साहब जब दोबारा अवध पहुँचे और अंग्रेजों के खिलाफ अपना संगठन करने लगे, तो पवन नाम की एक छोटी सी रियासत के राजा जगन्नाथ सिंह ने मौलवी साहब को अपने यहाँ बुलाया और जब मौलवी साहब वहाँ गये तो राजा के एक भाई ने धोका देकर उनको गोली मार दी। राजा जगन्नाथ सिंह ने औरन मौलवी साहब का सिर काट कर पास के अंग्रेज कैम्प में पहुँचा दिया, जिसके बदले में उसको पचास हजार रुपये अंग्रेजों से इनाम में मिले। इस तरह ५ जून सन् १८५८ को आज़ादी की लड़ाई का एक सच्चा देशभक्त नेता हमारे ही विश्वासघात के कारन मारा गया और उसकी मौत ने दूसरे नेताओं को भी बिल्कुल पस्त हिम्मत कर दिया।

मौलवी अहमद शाह के बारे में मशहूर इतिहास लेखक मालेसन ने अपनी किताब “इंडियन र्यूटिनी” (हिन्दुस्तान का ग़दर) की पहिली जिल्द, भाग चार, सफ़ा ३८१ में लिखा है—

“मौलवी बड़ा अजीब आदमी था + + + सेनापति की हैसियत से उसकी काबिलियत के गार में बहुत से सुबूत मिले + + कोई भी दूसरा आदमी घमंड के साथ यह नहीं कह सकता था कि मैंने दो मर्तबा सर कालिन कैम्पबेल को मैदान में हराया है ! + + + अगर एक ऐसे इन्सान को, जिसने देश की आजादी बेइन्साफी के साथ छीन ली गई हो और जो फिर से उसको आजाद करने की कोशिश करे और इसके लिये जग करे, देशभक्त कहा जा सकता है, तो इसमें जरा भर भी शक नहीं है कि मौलवी अहमद शाह सच्चा देशभक्त था । उसने किसी की चुपचाप हत्या की, अपने तलवार पर कलक नहीं लगाया, निहत्थे और बेकसूर लालों की हत्या को उसने कभी गवारा नहीं किया । उसने मरदाना वार, आन के साथ और डट कर खुले मैदान में उन विदेशियों के साथ जंग की जिन्होंने उसका देश छीन लिया था । हर देश के वीर और सच्चे लोगों को मौलवी अहमद शाह का नाम इज्जत के साथ लेना चाहिये ।”

यह शब्द एक अंग्रेज के हैं, जिनके खिलाफ मौलवी साहब लड़े थे । इससे साबित होता है कि वह कितने ऊँचे दर्जे के बहादुर और शानदार चाल चलन के इन्सान थे । सन् १८५७ की तवारीख में लाखों शहीदों के बीच उनका नाम हमेशा सूरज की तरह चमकता रहेगा ।

मौ० मुहम्मद बरकतुल्ला साहब भूपाली

हिन्दुस्तान के उन सैकड़ों हजारों देश भक्तों में, जो देश की आजादी के लिये अपना घरबार छुँड कर विदेश गये और फिर जीतेजी अपने वतन को न लौट सके. मै लाना मुहम्मद बरकतुल्ला साहब भूपाली के नाम और काम की चरचा हमेशा की जाती रहेगी और वतन की भलाई के लिये काम करने वाले लोग हमेशा उनकी जिन्दगी के हालात से रोशनी और हिम्मत पाते रहेंगे ।

इसकी वजह यह है कि मैलाना बरकतुल्ला साहब ने जिस ज़माने में देशभक्ति की राह में कदम रक्खा, उस ज़माने में हालांकि बहुत से लोग मुल्क की आजादी के लिये कोशिश कर रहे थे और इसके लिये निहायत दिलेरी के साथ तरह तरह की तकलीफ़ें सह रहे थे, लेकिन उनमें से ज़्यादातर लोगों की मियासत महज़ ज़ुबानी थी । “हिन्दुस्तान हमारा, हमारे पुरखों का देश है, इसकी तहजीब और इसका पुराना इतिहास बहुत शानदार है लेकिन गुलाम होने की वजह से इसकी पुरानी इज़्जत धूल में मिल गई है, इस लिये हमको अपने देश को आज़ाद करने की कोशिश करनी चाहिए ।” उस वक़्त अक्सर देश-भक्तों के खयालत ऐसे ही होते थे । इसके अलावा एक बात यह भी उनमें थी कि चूँकि उनकी देशभक्ति अपने पिछले शानदार ज़माने की याद और उसे फिर से हासिल करने की इच्छा पर कायम थी, इसलिये अगर मुसलमान देशभक्त मुग़लों जैसा राज़चाहते थे, तो हिन्दू देशभक्त राजपूतों जैसा या मरहटों जैसा । इन दोनों में हालांकि कोई आपसी मन मुटाव नहीं था और न इन दोनों में फ़िरकापरस्ती ही थी, फिर भी अपने इन खयालात की वजह से दोनों एक दूसरे के नज़दीक न

आ सके। यही वजह है कि सन् १८६८ से सन् १९१५ तक हम हिन्दु-स्तान के हिन्दू और मुसलमान इनक़लाबियों को साफ़-साफ़ अलग-अलग सफ़्तों में पाते हैं। उस वक्त देवबन्द का मदरसा अगर मुसलमान इनक़लाबियों का गढ़ था, तो महाराष्ट्र और बंगाल हिन्दू इनक़लाबियों के गढ़ थे। लेकिन न तो महाराष्ट्र और बंगाल के हिन्दू इनक़लाबियों में किसी मुसलमान का नाम पाया जाता है और न मदरसा देवबन्द के क्रान्तिकारियों में किसी हिन्दू का जिक्र मिलता है। इसकी वजह सिर्फ़ यह थी कि उस वक्त जमहूरियत यानी पंचायती राज की बात इन लोगों के दिमाग़ में नहीं थी। लिहाज़ा दोनों ने कभी एक साथ मिलकर काम करने की ज़रूरत ही महसूस नहीं की। हालांकि जब कभी मौका आया, तब इन देशभक्तों ने हिन्दू मुस्लिम एकता की पूरी कोशिश की। मिसाल के लिये हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही का वह फ़तवा इस सिलसिले में पेश किया जा सकता है, जो उन्होंने सन् १९०५ में दिया था और जिसमें मुसलमानों से कहा गया था कि वह कांग्रेस में शामिल हों, जो हिन्दू मुसलमानों की मिली जुनी जमात है, लेकिन सर सय्यद की 'मुस्लिम अंजुमन' में, जो सिर्फ़ मुसलमानों की जमात है, शरीक न हों।

लेकिन इसी ज़माने में मौलाना बरकतुल्ला साहब भूगली ने इस मैदान में आकर इस बड़ी कमी को पूरा कर दिया। मौलाना भूपाल के रहने वाले थे और आपके पिता रियामत के एक बड़े सरकारी अफ़सर थे। उन्होंने अपने लड़के को ऊँची से ऊँची तालीम पाने के लिये विलायत भेजा। इस तरह मौलवी बरकतुल्ला साहब भरी जवानी में विलायत पहुँचे। लेकिन वह विलायत पहुँचकर दूसरे हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों की तरह रास रंग में नहीं डूब गये, बल्कि इंग्लैंड पहुँचते ही उनके दिल में यह सवाल उठा कि इंग्लैंड जैसा छोटा मुल्क इतना खुशहाल क्यों है और मेरा देश हिन्दुस्तान इतना विशाल होता हुआ इतना ग़रीब क्यों है। उन्होंने इस पर ग़ौर करना शुरू किया और फिर

इस नतीजे पर पहुँचे कि हिन्दुस्तान की दिल को कँपा देने वाली यह गरीबी सिर्फ इसलिये है कि 'हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों' का कब्जा है। अंग्रेजी हुकूमत जोक की तरह हिन्दुस्तान का खून पी रही है, जिसका नतीजा यह है कि अंग्रेज कौम और उनका मुल्क मोटा और मजबूत होता जा रहा है जबकि हमारा देश दिनों दिन कमजोर और बीमार पड़ता जा रहा है।

उस ज़माने में महाराष्ट्र के मशहूर नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले का बड़ा जोर था। "हिन्दुस्तान की माली हालत कैसे भिगड़ी?" इस मजमून पर उनके बड़े जोगदार जानकारी से भरे हुए लेखर होते थे, इसलिये शुरू शुरू में मौलाना बरकतुल्ला साहब पर उनका बहुत असर पड़ा। लेकिन कुछ ही दिनों बाद वह उनकी नरम नीति से ऊब गये और उनका मुकाबल तिलक की पार्टी की तरफ हो गया। इसके बाद मौलाना हिन्दुस्तान आगये और उन्होंने भूपाल से एक अखबार निकालना शुरू कर दिया। उस ज़माने में, जब कि विलायत हो आना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी और विलायत के पास लोगों को बड़ी से बड़ी नौकरियाँ मिलना बेहद आसान था, मौलाना ने उस तरफ न जाकर अपने मुल्क की खिदमत करने का फैसला किया। इससे जाहिर होता है कि मौलाना की देशभक्ति महज दिखावटी नहीं थी। उनके दिल में सचमुच अपने मुल्क के लिये भारी दर्द था और वह उसके लिये भारी से भारी कुर्बानी करने में भी आगा पीछा नहीं सोचते थे।

मौलाना का यह अखबार कुछ दिनों तक चला, लेकिन उसके गरम विचारों को ज्यादा दिन तक सरकार बर्दाश्त नहीं कर सकी। अखबार बन्द कर दिया गया और मौलाना पर कड़ी नज़र रखी जाने लगी। मौलाना समझ गये कि अब वह देश में रह कर अपने खयालात का प्रचार नहीं कर सकेंगे। इस लिये वह जापान पहुँचे और वहाँ की एक

यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हो गये। यहीं से उन्होंने 'इस्लामिक फ़ेटरनिटी' के नाम से एक अख़बार निकालना शुरू किया।

यह अख़बार सर मय्यद की उन हलचलों की मुखालफ़त करता था, जिनसे हिन्दू मुसलमानों में फूट पड़ जाने का अन्देश था। मौलाना बरकतुल्ला साहब का कहना था कि मुसलमानों की भलाई सिर्फ़ इसी में है कि वह हिन्दुओं के साथ मिल कर अंग्रेज़ हुकूमत से मोरचा लें।

इस अख़बार की वजह से जब अंग्रेज़ हुकूमत ने अपने काम में बाधा पड़ते देखी, तो उसने जापान सरकार पर इन्क़्स्विलाफ़ कारवाई करने के लिये जोर डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि जापान की हुकूमत ने उस अख़बार को बन्द कर दिया। अख़बार रुक बन्द होते ही मौलाना ने भी अपना बोरिया बिस्तर संभाला और जापान में चल दिये। जिस यूनिवर्सिटी में मौलाना प्रोफ़ेसर थे, उसके मुन्तज़िम नहीं चाहते थे कि मौलाना यूनिवर्सिटी को छोड़ जायँ, लेकिन मौलाना ने लड़के पढ़ाने और पेट पालने के लिये अपना वतन नहीं छोड़ा था। वह जापान से सीधे अमरीका पहुँचे और वहीं अपना पुराना काम शुरू कर दिया। लेकिन उनको यह देख कर बड़ी तकलीफ़ होती थी कि उन पर मुल्क के मुसलमान कुछ स्वार्थी नेताओं के बहकावे में आकर आज इस बात पर बहस करने में लगे हुए हैं कि कांग्रेस में मिलना चाहिये या नहीं। हालाँकि उस वक़्त काँग्रेस की जो नरम ग़ान्धीसी थी, उसकी वजह से मौलाना काँग्रेस को भी कुछ ज़्यादा काम की चीज़ नहीं समझते थे। लेकिन उनका ख़याल था कि यह देश का एक मिला जुला प्लेटफ़ॉर्म है, जिसका असर हुकूमत पर भी कुछ न कुछ पड़ता ही है। इस सिलसिले में मौलाना ने २१ फ़रवरी सन् १९०५ को एक ख़त मौलाना हसरत मूहानी साहब को लिखा था। यह ख़त मौलाना की उस वक़्त की विचार-धारा को पूरी तरह जाहिर करता है।

इसलिये उसका कुछ हिस्सा यहाँ दिा गया है। खत फ़ारसी में था, जिस में मौलाना ने लिखा था:—

“हाल ही में आपने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जो एडीटोरियल लिखा है और इण्डियन-नेशनल के सालाना जलसे में मुसलमानों के शामिल होने के बारे में लिखा है जो मेहरबानी की है, उसका अंग्रेजी तर्जुमा मैंने देखा। बेहद प्रशंसा के साथ।

सबसे पहिली बात, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये दलील बन सकती है, देश-प्रेम और हमजिन्म (जो हिन्दुस्तानी) होना है। असलियत तो यह है कि ज्यादातर मुसलमानों के पुग्खे हिन्दू थे और हिन्दुस्तानी थे। इसलिये कुछ मजबूती के लिये उनका असली एकता को खत्म नहीं कर सकते। इसके अलावा हिन्दू-मुस्लिम एकता की सबसे बड़ी जरूरत इसलिये भी है कि इस वक्त के लिये आम तबाही फैली हुई है।

पिछले दस बरसों में क़रीब दस लाख इन्सान भूक से मर चुके हैं, और इन ग़रीबी के मारे हुए लोगों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इस हादसे (दुर्घटना) की भयंकरता के समझ में आती है जब हम इस तादाद का मुकाबला ईरान की आबादी से करें, जो सिर्फ़ डेढ़ करोड़ है।

आखिर यह ग़रीबी कहाँ से आई?

(१) जिस वक़्त से ब्रिटिश हुकूमत कायम हुई, अंग्रेजी कारख़ानों के मालिकों ने मशिनों के ज़रिये कपड़ा, धथियार, बरतन बग़ौरा बनाकर हिन्दुस्तान की तमाम कारीगरी को धूल में मिला दिया। १८वीं सदी के आखिर और १९वीं सदी के शुरू में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने यह क़ानून बनाया कि हिन्दुस्तान की बनी हुई चीज़ें जब इंग्लैंड आवेंगी, तो उन पर कस्टम-ड्यूटी क़रीब सत्तर या अस्सी फीसदी लगेगी और इंग्लैंड की बनी हुई चीज़ों पर जो हिन्दुस्तान पहुँचेंगी, या तो कस्टम-ड्यूटी लगाई ही न जाय और अगर लगाई भी जाय, तो बहुत कम और

हिन्दुस्तान की हुकूमत का खर्च चलाने के खयाल से लगाई जाय। यही वजह है कि हिन्दुस्तान की कारीगरी दूसरे मुल्कों में गाहक नहीं पा सकी और अपने हिन्दुस्तान में इंगलैंड की चीजें सस्ती होने को वजह से खूब बिकने लगीं। इसलिये धीरे-धीरे हिन्दुस्तान की तमाम कारीगरी जड़ से खतम हो गई और हिन्दुस्तान, जो अपने पुराने जमाने से कला कौशल का घर समझा जाता था, सिर्फ एक खेती बाड़ी का मुल्क बन कर रह गया।

दूसरी वजह यह है कि हिन्दुस्तान की तमाम उपज और यहाँ तैयार होने वाली चीजों को अँगरेजी पूंजीपति बहुत सस्ता खरीद कर दूसरे मुल्कों में मँहगा बेचते हैं।

तीसरी वजह यह है कि हिन्दुस्तान में खेती नए तरीकों से नहीं होती।

चौथी वजह यह है कि हिन्दुस्तान की हुकूमत करीब तीस करोड़ रुपया हिन्दुस्तान की वज्जारत पर खर्च करने के लिये, इंगलैंड के पूंजीपतियों से लिये हुए कर्ज का सूद चुकाने के लिये और पुराने अंग्रेज नौकरों की पेन्शन देने के लिये हर साल विलायत भेज देती है।

पाँचवीं वजह यह है कि सब बड़े बड़े ओहदे सिर्फ अंग्रेजों को दिये जाते हैं और छोटी छोटी नौकरियाँ ही हिन्दुस्तानियों को मिलती हैं।

छठी वजह यह है कि कानून और इंडियन सिविल सर्विस के इम्तहान देने के लिये हिन्दुस्तानियों को इंगलैंड जाने के लिये मजबूर कर दिया गया है।

यह थोड़े से नुकसान हैं, जो हमारी बरबादी के असली कारन हैं और जिनसे पूरे हिन्दुस्तान की बरबादी हो रही है। यह नुकसान मैंने बहुत मुस्तसर, यानी किसी बड़े ढेर में एक मुट्ठी की तरह, इसलिये बयान किये हैं, जिससे उन लोगों को, जो काँग्रेस से दूर रहना चाहते हैं, नसीहत हासिल हो।

अगर मुसलमान काँग्रेस में शामिल होकर इस कशमकश के मैदान में नामवरी की गेंद अपने हिन्दू भाइयों से आगे निकाल ले जायें, तो वह इसलाम की बहुत बड़ी खिदमत करेंगे।”

यह खत बताता है कि मौलाना बरकतुल्ला साहब की सियासत सिर्फ ज़ुबानवादी नहीं थी, बल्कि अपने लाखों कराइयों देश भाइयों की तकलीफों और ग़रीबी ही उनके इस मैदान में खींच लाई थी।

इसके बाद सन् १९१८-१९ में जब अमरीका में ग़दर पार्टी का संगठन हुआ, तो मौलाना उसमें शामिल हो गये। यहाँ पर यह बता देना जरूरी है कि ग़दर पार्टी के तमाम नेता सिक्ख थे, लेकिन मौलाना को उसमें शामिल होना जरूरी मालूम हुआ क्योंकि उनके नज़दीक देशभक्तों की एक अलग ज़ौम थी, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख वगैरा का कोई भेद ही नहीं था। ग़दर पार्टी के सिक्ख भाइयों ने भी उनके सर आँवों पर बैठाया और आगे चक्कर जब जब ग़दर पार्टी के नेताओं में फूट पड़ी, तब तब मौलाना ही एक अकेले ऐसे आदमी रहे, जिन पर ग़दर पार्टी का हर एक मेम्बर पूरी तरह यकीन रखता था और उनकी बात मान लेता था।

सन् १९१४ में जब यूरोप में बड़ी लड़ाई शुरू हुई तो मौलाना फ़ारन जर्मनी पहुँचे और वहाँ से जो ‘इन्डा-जर्मन-टर्किश’ मिशन अफ़ग़ानिस्तान के लिये चला, उसके एक मेम्बर बनकर टर्की होते हुए अफ़ग़ानिस्तान आ गये। यह मिशन हमलिये आया था, जिससे कि अफ़ग़ानिस्तान की सरकार का अपनी तरफ़ मलाकर हिन्दुस्तान पर हमला कर दिया जाय। यहीं पर मौलाना बरकतुल्ला साहब की जान-पहिचान मौलाना उबैदुल्ला साहब मिन्नी आग मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब के साथ हुई और वह हिन्दुस्तान की उम आगज़ी आज़ाद हुकूमत में शामिल हो गये, जो इन लोगों ने बनाई थी। इस सरकार में मौलाना बरकतुल्ला साहब की हैसियत सब से बड़े वज़ीर का था।

जैसा कि सभी जानते हैं कि यह हुकूमत अफ़ग़ानिस्तान की अंग्रेज परस्त पालिसी की वजह से कुछ ज्यादा काम न कर सकी, इसलिये लड़ाई ख़तम होने पर मौलाना रूस चले गये। वहाँ आपने रूस की हुकूमत और कम्युनिज़म की बाबत पूरे हालात समझे और पढ़े, जिससे आपको एक नई रोशनी मिली। लेकिन बहुत सी बातें ऐसी भी थीं, जिनसे आप रूस के नज़रिये से इत्तिफ़ाक़ नहीं करते थे। इसलिये आप रूस से लौटकर जर्मनी आ गये और वहाँ से 'अल इम्लाह' नाम का एक अख़बार निकालने लगे। इस अख़बार का मंशा भी हिन्दुस्तान के मुसलमानों को अंग्रेजों के मुक़ाबले में खड़ा कर देना था। यह अख़बार कुछ दिनों तक चला, लेकिन रुपये-पैसे की तंगी की वजह से आख़िर मौलाना को इसे बन्द कर देना पड़ा।

फ़रवरी सन् १९२७ में जब ब्रूसेल्स में 'ऐन्टी इम्पीरियलिज़्म कानफ़्रेंस' हुई तो आपने उसमें ग़दर पार्टी के सरकारी नुमाइन्दे की हैमियत से हिस्सा लिया। इस कानफ़्रेंस में तमाम दुनिया के नुमाइन्दे आये थे और हिन्दुस्तान की कांग्रेस की तरफ़ से इसमें पं० जवाहर लाल नेहरू ने हिस्सा लिया था। उसी वक़्त आपकी मुलाक़ात नेहरू जी से भी हुई थी जिसका ज़िक्र नेहरू जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में बहुत अच्छे लफ़्ज़ों में किया है।

इस कानफ़्रेंस के बाद ही सान फ़्रान्सिस्को में ग़दर पार्टी का सालाना इजलास हुआ, जिसमें आपको बहुत इसरार के साथ बुलाया गया। उस वक़्त आपकी सेहत ऐसी नहीं थी कि आप इतनी दूर की यात्रा कर सकें। फिर भी आप इनकार न कर सके और वहाँ पहुँचे। इस इजलास में होने वाली तक़रीर ही आपकी सबसे आख़िरी तक़रीर थी, जिसमें आपने अपने साथियों से ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ बग़ावत लोहा खेते रहने की अपील की थी। कहा जाता है कि यह तक़रीर मौलाना की सबसे अच्छी और सबसे ज्यादा कामयाब तक़रीर थी, जिसके एक एक

लपज में गजब का जोश और दर्द था। बहुत से लोग तो इस तूफ़ान को सुन कर रोने लगे थे।

गदर पार्टी के इजलास के बाद ही आप बीमार पड़ गये। उस वक्त आपकी उमर पैंसठ बरस की थी, जिसके करीब २२ बरस आपने जिलावतनी की हालत में एक मुल्क से दूसरे मुल्क में भागते दौड़ते बिताये थे। उस जमाने में उनको ज़िम हाज़त में रहना पड़ा, उसकी कहानी आज भी पत्थर से पत्थर दिल को पिघला सकती है। पास में पैसा नहीं, रहने का ठिकाना नहीं, बिल्कुल बेगाना मुल्क, अंग्रेज़ी हुकूमत के जासूओं का घेरा और साथियों में भी आपसी फूट। भला इस हालत में किसकी हिम्मत कायम रह सकती है। लेकिन मौलाना जिसे भी मिले और जब भी मिले, हँसते हुए ही मिले। जब उनके और साथी इन मुसीबतों और परेशानियों की बडुवाइट की वजह से आपस में लड़ते थे, और एक दूसरे पर बुरे से बुरे इलज़ाम लगाने लगते थे, तब उनके समझाना और धीरेज बँधाना मौलाना का ही काम था। वह कभी अपनी मुसीबतों की बात ज़बान पर भी नहीं लाते थे और अपने हर एक साथी की मुसीबत सुनने के लिये हमेशा तैयार रहते थे। यही वजह थी कि हर एक हल्के में वह बड़ी इज़त की निगाह से देखे जाते थे।

कुछ लोग उनको पिछड़े हुए खयालों का समझते थे, क्योंकि उनकी हर बात कुछ रूढ़ानियत का रंग लिये हुए होती थी। बावजूद इसके कि वह तमाम यूरोप घूम आये थे और रूस में भी काफ़ी दिनों तक रहे थे, खुदा और मजहब पर उनका विश्वास दिनोंदिन पक्का होता गया। शायद ही कभी उन्होंने एक वक्त भी नमज़ छोड़ी हो और शायद ही किसी रमज़ान में एक दिन भी बिना रोज़ा रखे रहे हों। फिर भी और शायद इसीलिये वह हिन्दू-मुसलमानों की एकता पर दिल से यत्नीन रखते थे और उनको आपसी फूट से इतनी नफ़रत और

बिद थी कि सिर्फ इस बारे में वह किसी को भी कभी माफ़ नहीं कर सकते थे।

अगनी उस आखिरी बीमारी के यत्न भी उनकी ग़रीबी की हालत यह थी कि उनका विस्तर एक छोटी सी कोठरी में था, जिसमें फ़र्नीचर के नाम पर एक मेज़ तक नहीं थी और दवा या डाक्टर का तो ज़िक्र करना ही फ़ज़ूज़ है। इस हालत में हमारे देश की आजादी की लड़ाई का यह सूमा अपनी आखिरी रातें बिता रहा था। लेकिन फिर भी उनके चेहरे की मुस्कराहट छीनी नहीं जा सकी और ५ जनवरी १९२८ को जब उन्होंने हमेशा के लिये अपनी आँखें बन्द कर लीं, तब भी उनके चेहरे पर वही मुस्कराहट बनी रही।

मरते वक्त उन्होंने अपने साथियों से कहा था :—“तमाम ज़िन्दगी मैं ईमानदारी के साथ अपने वतन की आज़ादी के लिये कोशिश करता रहा। मेरी यह ज़बरदस्त खुशकिस्मती थी कि मेरी यह नाचीज़ ज़िन्दगी मेरे वतन के काम आई। आज इस ज़िन्दगी से विदा लेते समय जहाँ मुझे यह अफ़सोस है कि मैं अपनी कोशिशों में नाकामयाब रहा, वहाँ मुझे इस बात की भी तसल्ली है कि मेरे बाद मेरे मुल्क की मदद करने के लिये आज लाखों आदमी आगे बढ़ रहे हैं, जो सच्चे हैं, बहादुर हैं, जाँ बाज़ हैं। मैं इत्मीनान के साथ अपने मुल्क की किस्मत उनके हाथों में सौंप कर जा रहा हूँ।”

यह उस शहीद के आखिरी लफ़्ज़ थे जो इस दुनिया ने सुने। इसके बाद तो सिर्फ़ उनकी याद ही बाक़ी रह गई।

मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला की ज़िन्दगी के यह तमाम हालात मालूम होने पर कभी कभी दिल में ख़याल होता है कि काश वह आज भी होते और आज़ाद हिन्दुस्तान में कुछ दिन ही बिता लेते। लेकिन फिर ख़याल आता है कि उनका आज न होना भी अच्छा ही है, क्योंकि

अगर वह आज होते, तो या तो पाकिस्तान के किसी जेल में होते, क्योंकि वह हिन्दू मुस्लिम एकता के हामी थे और यह बरबादी व आपसी नफरत बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और अगर वह हिन्दुस्तान में रहते तो उनके इसी मुल्क के बच्चे उनके हिन्दुस्तान में रहने पर एतराज करते और उनकी वफादारी पर कोई ऐसे साहब शक जाहिर करते नज़र आते, जिनकी पूरी उमर ब्रिटिश हुकूमत के तलवे सहलाने में बीती होती। इसलिये यह अन्धा ही है कि आज वह ऐसी जगह हैं, जहाँ उनसे वफादारी का हलफ़ उठाने के लिये कह कर हम उनका अपमान नहीं कर सकते। हाय रे बदकिस्मत हिन्दुस्तान !

मौलाना मजहरुलहक

हमारे देश में आज फ़िरकापरस्ती का ज़हर इतनी बुरी तरह फैल गया है, कि आज ज़्यादातर हिन्दू हर एक मुसलमान को शक और नफ़रत की निगाह से देखते हैं और ज़्यादातर मुसलमान हर एक हिन्दू को इसी निगाह से देखते हैं। जिन लोगों की पूरी ज़िन्दगी हमारी जानकारी में ही देश सेवा में बीती है और जिनको हमने हमेशा फ़िरकापरस्ती के खिलाफ़ आवाज़ उठाते और उसके एवज़ में अपने ही जाति भाइयों के पत्थर खते देखा है, हमारे दिल की शैतानियत आज हमें उनके ऊपर भी यक़ीन न करने और उनको अपना दुश्मन मानने के लिये भड़काती है। यही कारन है कि आज भी न जाने कितने मुसलमान छिपे-छिपे और गुप्त-गुप्त पं० जवाहरलाल नेहरू पर भी शक करने से नहीं चूकते और हिन्दू तो खुल्लम खुल्ला मौ० आज़ाद, रफ़ी अहमद क़िदावई और शेख़ अब्दुल्ला तक के बारे में इसी तरह की ज़हरीली बातें कहते देखे जाते हैं। ऐसी हालत में यह ज़रूरी मालूम होता है कि हम अपने उन बुजुर्गों की याद करें, जिन्होंने अपनी पूरी ज़िन्दगी ही देश सेवा और आपसी मेल-मिलाप कायम करने में लगा दी।

ऐसे लोगों में एक खास नाम मौलाना मजहरुलहक साहब का है, जो बिहार के एक बहुत बड़े रईस घराने में पैदा होकर भी अपनी देश-मह्वी के कारण सब कुछ त्याग कर फ़कीरों की तरह रहने लगे थे। जो फ़िरकापरस्त हिन्दू आज यह प्रचार करते फिरते हैं कि हिन्दुस्तान का कोई मुसलमान कभी सच्चा देशभक्त नहीं हो सकता और न वह अपने जाति भाइयों के बारे में अपना पक्षपात ही छोड़ सकता है, उनके लिये मौलाना मजहरुलहक साहब की ज़िन्दगी एक ऐसा भरपूर

और सच्चा जवाब है, जिससे किसी तरह भी इन्कार नहीं किया जा सकता ।

मौलाना मजहबुलदक साइब लन्दन में गांधी जी के साथ पढ़े थे और वहीं से बैरिस्टरी पास करने के बाद वह जैसे ही देश लौटे, देश के काम में बढ़कर हिस्सा लेने लगे । यह वह जमाना था जब कि कांग्रेस धीरे-धीरे ताकतवर होती जा रही थी और उसने ब्रिटिश हुकूमत और उसके इन्साफ़ की सराहना करने के बजाय कुछ दबी दबी ज़बान से स्वराज और आज़ादी की बात कर्नी शुरू कर दी थी । हमारे देश के अंग्रेज़ अफसर कांग्रेस के इस बदलते हुए खय्ये को देख कर बेहद डरने लगे थे और बहुत सोच-विचार करने के बाद उन्होंने कांग्रेस की ताकत को कम करने के लिये हिन्दू मुसलमानों में फूट डालने का उपाय खोज निकाला था । इसके लिये ज़रूरी था कि मुसलमानों में पहिले तो यह खयाल पैदा किया जाय कि वह हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के मुक़ाबले में कम तादाद में हैं और इसलिये उनको हिन्दुओं के हमलों से बचने के लिये कुछ खास रिआयतों की ज़रूरत है और उसके बाद उनके यह रिआयतें कुछ ऐसे ढंग से दी जायें, जिससे हिन्दू उन रिआयतों का विरोध करें, और मुसलमानों का यह खयाल यकीन में बदल जाय कि सचमुच हिन्दू हमारे दुश्मन हैं और वह हमारी बढ़ती को सहन नहीं कर सकते ।

इसके लिये सन् १९०६ में मिंटो मार्ले रिफ़ार्म के नाम से एक स्कीम हिन्दुस्तान पर लागू की गई, जो हिन्दुस्तान की माँगों का एक खिजलाहट भरा जवाब था । इस मिंटो मार्ले रिफ़ार्म में मुसलमानों की बड़ी तरफ़दारी जाहिर की गई थी, लेकिन वह तरफ़दारी इस शक्ल में नहीं थी कि ग़रीब मुसलमान बच्चों के लिये सस्ती तालीम का कोई इन्तज़ाम किया गया हो, या उनके लिये अस्पताल खोले गये हों, या सरहद पर, जहाँ कि सौ फ़ीसदी मुसलमान रहते थे, अंग्रेज़ी हुकूमत के

वहशियाना हमले बन्द हो गये हों, बल्कि वह तरफदारों इस शर्त में थी कि ऐसेम्बली और कॉमिलों के चुनावों में वोट देने का हक पाने के लिये एक हिन्दू के लिये तो यह जरूरी था कि या तो उसकी आमदनी तीन लाख रुपया सालाना हो और या वह कम से कम तीस साल पुराना ग्रेजुवेट हो। लेकिन मुसलमान के लिये सिर्फ तीस हजार की आमदनी और तीन साल पुराना ग्रेजुवेट होना ही काफी था। दुनिया भर में यह शायद पहला मौका था, जब कि वोट देने के हक के मामले में जाति या फ़िरक़े के नाम पर इस तरह फ़र्क़ किया गया था।

जैसे ही यह स्कीम शायी हुई, पूरे हिन्दुस्तान में इस मसले पर एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ। खुश किस्मती से उस जमाने की आम जनता न तो आज की तरह मुहंजब ही थी और न उसका सियासत से इतना सीधा ताल्लुक ही था इसलिये छुरेबाज़ी तो नहीं हुई, पर अख़बारों में कालम पर कालम रंगे गये। बड़ीबड़ी सभायें इसकी मुखाबफ़्त और मुआफ़क़त में भी गईं और इसने हिन्दू-मुसलमान के सवाल को काफी उभार दिया। हिन्दू कहते थे कि वोट देने के हक़ के बारे में इस तरह भेदभाव करना हमारे साथ सगासर जुल्म करना है और मुसलमान कहते थे कि जब अंग्रेज़ तक यह मानते हैं कि कम गिनती में होने की वजह से हमारे साथ यह रिआयत करना जरूरी है, तो इसका साफ़ मतलब यह है कि यह हमारा सच्चा हक़ है और कांग्रेस व दूसरे हिन्दू नेता अपनी फ़िरक़ा परस्ती की वजह से ही इस स्कीम का विरोध कर रहे हैं। ऐसी हालत में किसी मुसलमान नेता का इस स्कीम की मुखाबफ़्त में बोलना कितनी बड़ी हिम्मत की बात थी, यह बात आसानी से समझ में आ सकती है लेकिन मौलाना मजहरुलहक़ साहब ने इस स्कीम का ज़म कर विरोध किया और उन्होंने उन मुसलिम फ़िरक़ा/परस्त नेताओं को जो अंग्रेज़ों की इस भयानक चाल को अपनी

कामयात्री समझ कर खुशी से बगले बजा रहे थे, बहुत साफ़ साफ़ लफ्जों में यह चेतावनी दी कि इस स्कीम को मज़ूर करके वह फूट का ऐसा बीज बाँप दे रहे हैं, जिसका दरख्त आगे चलकर बहुत कड़ुवे फल देगा। जैसा कि फ़िक्कापरस्त गिरोहों का कायदा होता है, इस मौके पर मजह्रुलहक साहब को काफी गालियाँ उनकी तरफ़ से सुनाई गईं, लेकिन वह इन बातों से डरने वाले नहीं थे। वाश ! उस वक्त ही अपने इस दूरन्देश नेता की आवाज पर इस बर्क़िस्मत मुल्क ने ध्यान दिया होता।

इसके बाद कांग्रेस की मॉर्गों को इंग्लैंड की जनता के सामने रखने के लिये सन् १९१४ में जब एक डेपुटेशन इंग्लैंड भेजा गया, तो उसमें मौलाना मजह्रुलहक साहब भी थे। इस डेपुटेशन में श्री सच्चिदानन्द सिन्हा, भूपेन्द्रनाथ वसु, मि० जिन्ना, ला० लाजपत राय वगैरह उनके साथी थे और वहाँ पर उन्होंने जिस मेहनत के साथ अपने काम को निभाया, उसका सभी लोगों ने दाद दी। लेकिन वह जल्दी ही समझ गये कि इत तरह के डेपुटेशनो से कभी कोई अमली फ़ायदा नहीं हो सकता। इस बाद उस ज़माने की लिबरल सियासत से उनकी तबियत ऊब सी गई और वह कुछ ज़्यादा कारगर प्रोग्राम पर जोर देने लगे।

कुछ दिनों बाद सन् १९१६ में जब महात्मा गान्धी चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचारों की जॉच करने के लिये बिहार पहुँचे, तो मौलाना मजह्रुलहक साहब से उनको काफी मदद मिली। उस ज़माने में गान्धी जी को मदद देना तो दूर उनको अपने घर में ठहराना भी बड़ी हिम्मत की बात समझी जाती थी, लेकिन मजह्रुलहक साहब जिस काम को ठीक समझते थे उसको करने में फिर मुसीबतों और परेशानियों का सवाल उनको अपने रास्ते से कभी एक इंच भी नहीं डिगा सकता था। इसलिये जब चम्पारन में काम करते हुए एक बार गान्धी जी ने

अपने साथियों से यह पूछा कि अगर इस सिलसिले में जेल जाने की जरूरत हुई तो कौन कौन इसके लिये तय्यार है। तब मौलाना मजहरुलहक पहले आदमी थे जिन्होंने जेल जाने वालों में अपना नाम दिया था। उम्र जमाने में जेल जाना एक ऐसी ग़ैर मामूली बात समझी जाती थी कि जब गान्धी जी ने यह सवाल लोगों के सामने रक्खा, तो सभी उनके चेहरे की तरफ़ देखते रह गये थे। लेकिन मौलाना ने जब अपना नाम पेश किया, तो और भी बहुत से लोगों ने अपना नाम लिखा दिया। इसलिये गान्धी जी ने जेल जाने वालों की पहिली टोली का सदर मौलाना को ही चुना था।

इसके कुछ दिन बाद ही यानी मन् १९१७ में बिहार के शाहाबाद ज़िले में और उसके बाद गया और पलामू जिलों में भी गाय की कुरबानी के मसले पर बहुत बड़े-बड़े हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन जिलों में हिन्दुओं की तादाद ज्यादा थी, इसलिये, जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, मुसलमानों को हिन्दुओं के हाथों जान और माल का बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। उस वक़्त मौलाना मजहरुलहक साहब की हैभियत का कोई दूसरा लीडर होता, तो यकीनन उसकी तबियत पर इन बाफ़ेआत का असर पड़ता और उसके दिल में हिन्दुओं की तरफ़ से कड़ु-वाहट पैदा हो जाती, लेकिन मौलाना जानते थे कि इस बदकिस्मत मुल्क में इस तरह के फ़िक्केवाराना भगड़ो की असली वजह दूसरी ही है, इस लिये उन्होंने अगर मुसीबतजदा मुसलमानों की मदद की, तो जो हिन्दू बलवे के बाद पुलिस और फ़ौज की ज्यादातियों के शिकार हुए, उनकी मदद के लिये भी मौलाना के दरवाज़े हमेशा खुले रहे। इन्सान इन्सान में भेद करना उनको कभी नहीं सुहाता था और इसे वह बड़ी ज़लील बात समझते थे।

इसके बाद असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। गान्धी जी ने वकीलों से, सरकारी नौकरों से और विद्यार्थियों से सब कुछ छोड़ छाड़ कर

आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के लिये कहा और इस पुकार को सुनते ही मौलाना मजहकलक साहब अपना सब कुछ त्याग कर आजादी की लड़ाई के मैदान में आ डटे। इस सिलसिले में उन्होंने जो त्याग किया, उसकी कहानी आज भी दिल में एक उमंग पैदा कर देती है।

राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि जब एक दिन इंजीनियरिंग स्कूल के कुछ विद्यार्थी वहाँ के प्रिन्सिपल से भगड़ कर स्कूल से निकल आये, तो वह एक जुलूम की शक्ति में मौलाना के पास पहुँचे और उनसे कहा कि हम लोगों ने स्कूल तो छोड़ दिया है, इसलिये अब आप हमको कोई जगह दीजिये। उस वृत्त मौलाना बहुत ही ऐश-आराम के साथ एक बड़ी कोठी में रहा करते थे और अपने लिये एक दूसरी कोठी भी बनवा रहे थे। लेकिन जब इन फूल से नौजवानों को जगह की तलाश में इस तरह भटकते हुए देखा, तो उन सब लड़कों को लेकर अपनी जान पहिचान के एक साहब के छोटे से बंगले में आकर रहने लगे, जो गंगा के किनारे पर बना हुआ था। उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और गंगा के किनारे पर होने की वजह से वह जगह और भी ज्यादा ठंडी थी। इसके अलावा घने बाग़ीचों से घिरे रहने के कारन-वहाँ सील भी थी। लेकिन मौलाना वहीं बसे रहे। कुछ दिनों बाद मौलाना ने अपने ही पैसे से वहीं कुछ मकान भी बनवा दिये और उस जगह का नाम 'सदाकृत आश्रम', रख दिया, जो तब से लेकर आज तक सूबा कॉंग्रेस कमेटी का सदर दफ्तर बना हुआ है। इस आश्रम में मौलाना ने चर्खा बनाने का एक कारखाना भी खोला और सभी लड़कों को इस काम में लगा दिया। वह खुद लड़कों को पढ़ाते भी थे और वही सादा खाना खाते थे, जो लड़के खाते थे। लड़के ज्यादातर हिन्दू थे लेकिन मौलाना को वह पिता की तरह पूज्य मानते थे और उन पर भरोसा करते थे। मौलाना साहब ने भी उनके इस भरोसे को किस तरह निभाया,

इसका पता नीचै की घटना से लगता है, जिसे राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में इस तरह लिखा है:—

‘हक साहब के साथ एक बहुत गरीब घर का लड़का रहा करता था। उन्होंने देखा था कि लड़का पढ़ने में तेज है। उनके दिल पर इसका भी असर पड़ा था कि मुसलमान होकर भी उसने हिन्दी और संस्कृत पढ़ी थी। वह कालेज के फ़र्स्ट इयर या सेकण्ड इयर में पढ़ता था। नाम था उसका मुहम्मद खलील। हक साहब उसे मानते थे। असहयोग आरम्भ होने पर उसने भी कालेज छोड़ दिया और हक साहब के साथ ही उनकी काठी छोड़कर सदाकत आश्रम में जाकर रहने लगा। एक डेढ़ साल बाद मैंने सुना कि हक साहब ने उसको निकाल दिया। मुहम्मद खलील ने भी आकर मुझसे कहा कि वह रंज हो गये हैं, आप सिफ़ारिश करके उनको शान्त कर दीजिये। हक साहब की मेहरबानी मेरे ऊपर बराबर रहा करती थी। वह दिल से मुझे प्यार करते थे। इस लिये मैंने मुहम्मद खलील के बारे में उनसे कहा। उस समय तक मुहम्मद खलील सारे बिहार में विख्यात (मशहूर) हो गये थे। उन्होंने असहयोग आरम्भ होते ही एक राष्ट्रिय भजन बनाया था, जो उन दिनों बहुत चालू हो गया था...उन दिनों शायद ही कोई ऐसी सभा होती थी, जिसमें यह गीत उत्साह से न गाया जाता हो।

‘जब मैंने हक साहब से कहा कि मुहम्मद खलील की कोई ग़लती हो तो माफ़ कीजिये।’ तो उन्होंने बहुत ही दुःख के साथ मुझसे कहा, “मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, पर इस समय मजबूर हूँ। तुम नहीं जानते कि खलील ने कितना बुरा काम किया है। इसीलिये तुम सिफ़ारिश कर रहे हो। मैंने जिस चीज़ को अपने सारे जीवन का मुख्य उद्देश्य (स्वास मकसद) बना लिया है, जिसके लिये सब कुछ करता आया हूँ और आज फ़कीर बन गया हूँ, उस पर इसने ठेस लगाई है।

मैंने अपनी सारी जिन्दगी में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये काम किया है। उसी में आज भी लगा हुआ हूँ। आश्रम में रहकर इसने हिन्दू लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया है, जिससे वह लड़के, जो मुझ पर विश्वास करके प्रेम वश मेरे पास आ गये हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेद भाव समझने लगे। इसने मेरे सारे जीवन के दाने बनाये काम को बिगाड़ने का जतन किया है। इसने इस बात की कोशिश की है कि लड़कों को मुसलमान बनावे। मैं सब कुछ माफ़ कर सकता हूँ, पर इस तरह इमलाम के नाम पर लड़कों के साथ विश्वासघात करना बरदाश्त नहीं कर सकता। अब मैं जान गया हूँ कि इसने हिन्दी और संस्कृत भी इसी ढोंग के लिये पढ़ी है। एक दिन यह हिन्दू-मुस्लिम फ़साद भी करा देगा। मैं इसे आश्रम में बर्गिज नहीं रहने दूँगा।”

इस तरह उन्होंने उस मुहम्मद खलील को, जिसे उन्होंने अपने बेटे की तरह पाला पोसा था और जिसकी पढ़ाई लिखाई में हजारों रुपये खर्च किया था, सिर्फ़ इस इलज़ाम पर कि उसने किसी हिन्दू लड़के का मुसलमान होने के लिये फुमलाया था, इस तरह घर से निकाल दिया कि फिर जिन्दगी भर उसका मुँह नहीं देखा। सिर्फ़ इसी एक घटना से यह मालूम होता है कि मौलाना हिन्दू-मुस्लिम एकता पर कितनी सच्चाई से यत्नीन करते थे और इसे कितनी अहमियत देते थे।

एक ख़ास बात यह थी कि गान्धीजी की ही तरह मौलाना भी कभी यह नहीं देखते थे कि उनकी इन भावनाओं का हिन्दुओं पर क्या असर पड़ता है। उनके नज़दीक हिन्दू-मुस्लिम एकता का काम दूकानदारी नहीं था, जिसका एवज़ कुछ न कुछ मिलना ही चाहिये। जबकि यह तो उनका ईमान था। इसीलिये जब फ़िरकापरस्त हिन्दुओं ने मौलाना मजहबुलहक साहब का भी, हिन्दू-मुस्लिम सवाल की आड़ लेकर, तरह-तर्ह से विरोध किया और उनका अपमान किया तब भी उनके दिल में कोई कड़वाहट

नहीं आई और न उनको कुछ और लीडरों की तरह अपने खयालात बदलने की ही जरूरत महसूस हुई। मौलाना जानते थे कि जिनकी दूकान-दारी ही फिरकाररस्ती पर चली है, उनसे इसके सिवा किसी दूसरे बरताव की उम्मीद की ही नहीं जा सकती।

असहयोग के दिनों में और उसके बाद मौलाना बहुत दिनों तक बिहार विद्यापीठ के चान्मलर रहे। इसी जमाने में उन्होंने 'मदर-लैन्ड' नाम का एक हफ्तेवार अखबार भी निकाला, जिसमें एक लेख निकालने के जुर्म में उनको सजा भी भुगतनी पड़ी। कुछ दिनों बाद यह अखबार बन्द हो गया। इसके बाद वह लार्ग डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन भी चुने गये। इन दिनों ही जूनी १९२६ में जब हिन्दुस्तान के दूसरे दूसरे सूबों की तरह बिहार के हिन्दू मुस्लिमों के बीच फिर तनातनी शुरू हुई, तो मजहबुलहक साहब ने लुपट में ही बिहार के सभी खास खास नेताओं को इकट्ठा किया और उनसे ग्राम में एकता बनाए रखने की अपील की। इसका नतीजा यह हुआ कि बिहार में उस गरमा गरमी और जोश खरोश के जमाने में भी हिन्दू मुस्लिम एकता का ऐसा सुन्दर काम हुआ कि पूरे देश भर में उसकी चर्चा रही।

इसी साल जब गोदाही में आल इण्डिया कांग्रेस का इजलास हुआ, तो बहुत से सूबों ने उस इजलास की सदागत के लिये मौलाना मजहबुलहक साहब का नाम पेश किया। लेकिन मौलाना ने इस ओहदे को, जो हिन्दुस्तान में सब से बड़ी इज्जत की बात समझी जाती रही है, मंजूर करने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि अगर उन्होंने कांग्रेस की सदागत मंजूर कर ली, तो अपने सूबे में वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये जो काम कर रहे हैं, वह नहीं कर सकेंगे। इस बात से भी साबित होना है कि मौलाना एकता के काम को कितनी तरजीह देते थे।

इस तरह से मौलाना मजहबुलहक साहब एक ऐसी हस्ती थे, जो फिरकापरस्ती के बड़े-बड़े तूफानों में भी शान्ति और प्रेम के गीत गाते रहे। मुसलमानों ने उनके बाफ़िर कहा और हिन्दुओं ने भी उन पर तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाये, लेकिन वह अपनी जगह पर हमेशा जमे रहे। सन् १९२६ में जब लाहौर में सालाना इजलास हो रहा था, मौलाना का अपने गाँव फ़ीदपुर ज़िला छपरा में इन्तक़ाल हो गया। वह बहुत दिन से अपने इस गाँव में आकर रहने लगे थे और दिन-रात ईश्वर की याद और मजहबी किताबों में डूबे रह कर फ़कीरो जैसी जिन्दगी बिता रहे थे यहीं उन्होंने आम का एक बड़ा बाग़ भी लगाया था। उनके इन्तक़ाल से कुछ ही दिन पहले उनके एक जवान लड़के की मौत भी पास वी ही 'दाहा' नदी में डूब जाने से हो गई थी, जिसकी वजह से वह बड़े उदास रहने लगे थे।

जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने लिखा है सचमुच मौलाना की मौत से हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक सच्चा हामी हम दुनिया से चला गया। काश ! मौलाना आज होंते, तो इसमें तो शक नहीं कि ज़माने की हालत को देखते हुए उनके बड़ा सदमा पहुँचता, लेकिन आज जो इने गिने आदमी देश में एकता कायम करने का काम कर रहे हैं, उनके लिये वह एक बड़े सहारे की चीज़ बन जाते। और सच्ची बात तो यह है कि आज उनका नाम भी हमें एक नई रोशनी और नया उत्साह देने की ताक़त रखता है।

मौ० मुहम्मद मियाँ मन्सूर अन्सारी

हजरत मौलाना अबेदुल्ला साहब सिन्धी की तरह मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब मन्सूर अन्सारी भी वलीउल्लाही संगठन के उस आन्दोलन से ताल्लुक रखते हैं, जो वलीउल्लाही जमात के छुटे इमाम शैख-उलहिन्द मौलाना महमूदुल हसन साहब ने सन् १९१४ की पिछली बड़ी लड़ाई के वक्त शुरू किया था और सरकारी कागज़ों व रोलट कमेटी की रिपोर्ट में जिसके 'सिल्कन लेटर्स वान्सप्रेसी' यानी 'रेशमी खतों की साज़िश' के अन्तर्ले और रंगीन नाम से पुकारा गया है। रोलट कमेटी की रिपोर्ट में इस तरहीक का हीरो मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब का ही बताया गया है।

मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब इस पुगने इनकलाबी संगठन से अपने बचपन में ही परिचित हो चुके थे क्योंकि इस संगठन के पाँचवें इमाम मौलाना मुहम्मद कासिम साहब उनके सगे नाना थे। मशहूर है कि जब मौलाना मुहम्मद कासिम साहब ने अपनी बेटी यानी मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब की माँ की शादी की थी तब उनके पास शादी में खर्च करने और दहेज में देने के लिये एक पैसा भी नहीं था। लेकिन इस बात का न तो उनको कुछ भी रंज था और न इससे उनको कोई दिक्कत ही महसूस हुई। दहेज के वक्त उन्होंने अपनी कुछ किताबें अपनी प्यारी बेटी के हाथों में देते हुए कहा था कि मेरी दौलत तो यही है और मैं उम्मीद करता हूँ कि अगर तू इसकी कद्र करेगी, तो तुझे सचमुच इस दौलत से ही सच्चा सुख और आराम नसीब होगा। बेटी ने भी बिना किसी हिचक के इस नायाब दौलत को लेकर आंखों से लगा लिया।

कहा जा सकता है कि अपने नाना और अपनी मां की यही भावनाएँ मौलाना मुहम्मद मियां साहब को भी विरासत में मिलीं जिसकी वजह से वह हमेशा दुनियावी लालचों से बचे रहे और देशभक्ति की राह में आने वाली तमाम मुसीबतें खुशी खुशी झेलते रहे।

मौलाना मुहम्मद मियां साहब के पिता मौ० अब्दुल्ला अंसारी अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में मजहबी तालीम के महकमे के नाज़िम थे और उस मशहूर खानदान से ताल्लुक रखते थे, जिसका सिलसिला बादशाह औरंगजेब के ज़माने में होने वाले मशहूर सूफ़ी फ़कीर शाह अबुल मन्सूरी से मिलता है। कहा जाता है कि उस ज़माने में जब कि चारों तरफ़ तंगदिली का दौर दौरा था और इस्लाम को इस शक्ल में दुनिया के सामने पेश किया जा रहा था, जिससे दूसरे मजहब के लोग उससे डरने लगे थे, तब शाह अबुल मन्सूरी ने अपने उपदेशों में प्रेम और मुहब्बत की धारा बहाकर इस्लाम की बहुत बड़ी सेवा की थी। इस तरह मौ० मुहम्मद मियां साहब को फ़िरक़ेवाराना तंगदिली के ख़िलाफ़ लड़ने और आपसी प्रेम का प्रचार करने के जज़्बात भी खानदानी विरासत में मिले थे।

अपने मुल्क की गुलामी और अंग्रेज़ी राज की वर्चस्वता से भी मौलाना मन्सूर अपने होश संभालने से पहिले ही वाकिफ़ हो चुके थे। सन् १८५७ की मशहूर आज़ादी की लड़ाई में उनके नाना मौलाना कासिम साहब ने किस तरह हिस्सा लिया था और उसकी वजह से उनको और उनके खानदान को कैदी कैदी तकलीफ़ें उठानी पड़ी थीं, सय्यद हमन असवारी साहब, जो ननिहाल के नाते मौलाना के एक करीबी बुजुर्ग होते थे और जिनकी बादशाह के दरबार में बहुत बड़ी इज़्जत थी, किस तरह अङ्गरेजों की गोलियों से शहीद हुए थे, इसकी कहानियां मौलाना को बचपन से ही सुनने को मिली थीं। इसके बाद जब होश संभाला तो आप देव-बन्द मदरसे में मौलाना महमूदुल हसन साहब के पास पढ़ने के लिये भेज दिये गये। रही सही कमी अब यहाँ पूरी हो गई और मजहबो तलीम के साथ

साथ आपने वली उल्लाही तहरीक के उसूलों और उसके पिछले इतिहास को भी पढ़ा और समझा। इसके बाद आप मौलाना महमूदुलहसन की इन्कलाबी कौंसिल के एक खास मेम्बर बना लिये गये और मुल्क की आजादी के काम में पूरे जोर शोर से हिस्सा लेने लगे।

सन् १९१४ में जब यूरोप में लड़ाई छिड़ी और मौलाना महमूदुलहसन साहब, इस मौके से फायदा उठाने के लिये हिन्दुस्तान की आजादी भी लड़ाई में दूसरे मुल्कों की मदद लेने के विचार से मक्के के लिये चले तो मौलाना मुहम्मद मियां साहब भी उनके साथ थे। यह यात्रा भी ऐसी अनोखी थी, जिसमें पग-पग पर गिरफ्तारी का या किसी भी और मूसीबत के आजाने का खतरा था, पर देशभक्तों का यह दल किसी न किसी तरह हिन्दुस्तान से निकल ही गया। मक्का पहुँच कर मौलाना महमूदुलहसन साहब ने हजाज के गवर्नर गालिब पाशा से मुलाकात की और हिन्दुस्तान की उत्तर पच्छिम की सरहद पर बसने वाले आजाद कबीलों के नाम एक खत हासिल किया जिसका जिक्र रौलट कमेटी की रिपोर्ट में 'गालिब नामा' के नाम से किया गया है। इस खत में आजाद कबीलों को टर्कों की हुकूमत की तरफ से यह यक़ीन दिलाया गया था कि अगर वह हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में मौलाना महमूदुल हसन साहब का मदद देंगे, तो टर्कों की सरकार उनकी पूरी पूरी मदद करेगी। इस खत का हासिल करने के बाद मौलाना महमूदुल हसन साहब और उनके साथी मदीना पहुँचे, जिसमें कि वह मदीना के गवर्नर बसरी पाशा की मार्फ़त टर्कों के लड़ाई के मददगार के बज़ीर अनवर पाशा से मुलाकात करके उनसे भी आजाद कबीलों के लिये इसी तरह का खत हासिल कर लें। लेकिन मदीना पहुँचने पर कुछ ऐसी उलझनें पैदा हो गईं जिससे मालूम हुआ कि अभी अनवर पाशा से मुलाकात होने में काफी दिन लग सकते हैं। दूसरी तरफ़ हालत यह थी कि मौलाना महमूदुल हसन साहब हिन्दुस्तान छोड़ने से बहुत पहले ही

मौलाना उबेदुल्ला साहब सिन्धी के काबुल खाना कर चुके थे, जहाँ पर मौलाना के हुक्म का इन्तज़ार कर रहे थे। इसलिये फैसला यह किया गया कि फ़िलहाल ग़ालिब पाशा के खत को ही किसी शास्त्र के जरिये आज़ाद कबीलों में पहुँचा दिया जाय और फिर इसके बाद वही शास्त्र काबुल पहुँच कर इस तमाम काम की रिपोर्ट मौलाना उबेदुल्ला साहब सिन्धी के दे दे, जिससे वह भी अपना काम शुरू कर दें।

यह फैसला तो कर लिया गया, पर सवाल यह था कि यह काम सौंपा किसे जाय? बहुत देर सोचने विचारने के बाद आखिर मौलाना महमूदुल हसन साहब ने फैसला किया कि यह काम सिर्फ़ मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ही पूरा कर सकते हैं। उन्होंने मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब से यह बात कही, और मौलाना ने खुशी-खुशी इस काम को पूरा करने का भार अपने सर ले लिया। इस काम में जो खतरे थे, उनसे मुहम्मद मियाँ साहब बेखबर नहीं थे। वह जानते थे कि खास हमारे ही काफ़िले में कुछ अंग्रेज़ों के ख़ुफ़िया भी चल रहे हैं। जो हिन्दुस्तान का किनारा पड़ने से पहिले ही यह तमाम बातें हिन्दुस्तान की हुकूमत तक पहुँचा देंगे, फिर भी उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की और उस खत को लेकर हिन्दुस्तान चल दिये।

मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब 'ग़ालिब नामा' के साथ हिन्दुस्तान आये। अंग्रेज़ हुकूमत को भी इसकी खबर लग चुकी थी, इसलिये उनके फँसाने के लिये पूरा जाल बिछा लिया गया था। पर मौलाना ने ऐसी होशियारी से काम किया कि वह तमाम जाल बिछा का बिछा रह गया और मौलाना पूरे हिन्दुस्तान को पार करके सरहद के आज़ाद कबीलों में जा पहुँचे। इतना ही नहीं, वह रास्ते में 'ग़ालिब नामा' की बहुत सी कापियाँ भी बाँटते गये, जिससे मुल्क के लोग भी जान जायें कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये इस तरह की कोशिश की जा रही है और वह भी उस मौक़े के लिये अभी से तय्यारी शुरू कर दें।

‘ग़ालिब नामा’ लेकर मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब (हाजी तुरंगज़ई) के पास पहुँचे । उनके सामने अपनी पूरी स्कीम रखी । हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब इस स्कीम की बहुत सी बातें तो पहले से ही जानते थे, क्योंकि वह सन् १९०६ से ही देवचन्द मदरसे और मौलाना महमूदुल हसन साहब से अपना ताल्लुक कायम कर चुके थे । इसीलिये उन्होंने अंग्रेजों के साथ सरहद पर लड़ाई भी शुरू कर दी थी । ‘ग़ालिब नामा’ पाने के बाद हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब ने और भी जोर-शोर से अपनी फ़ौजों की भर्ती शुरू कर दी और इसमें उनको कामयाबी भी काफ़ी हुई । मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ने भी हाजी साहब के काम में बहुत बड़ी मदद की और कई लड़ाइयों में भी हिस्सा लिया, लेकिन इसके बाद वह काबुल के लिये चल दिये, क्योंकि काबुल के शाह अमीर हबीबुल्ला साहब के नाम भी उनके पास कुछ ख़त थे, जो उनको अमीर तक पहुँचाने थे और जिनके सहारे उनको उम्मीद थी कि काबुल की सरकार से वह काफ़ी मदद हासिल कर लेंगे ।

मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ने काबुल पहुँच कर अमीर हबीबुल्ला साहब के पास ख़त पहुँचा दिये । वह और मौलाना उबेदुल्ला साहब साथ मिलकर काम करने लगे । मौलाना उबेदुल्ला ने कुछ ही दिन बाद, जब हिन्दुस्तान की पहली आरज़ी आज़ाद हुकूमत बनाई, तो मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ने उसमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया । यह हुकूमत इसलिये बनाई गई थी, जिससे उसके जरिये टर्की, अफ़ग़ानिस्तान और जर्मनी से मदद लेकर हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ लड़ाई शुरू कर दी जाय । लेकिन अमीर हबीबुल्ला ने इस काम में कोई मदद नहीं की, इसलिये यह हुकूमत कोई खास काम नहीं कर सकी । मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब के दिल को इससे इतना धक्का लगा और अमीर हबीबुल्ला के वह इतने ज़्यादा खिलाफ़ हो गये, कि काबुल

का जो संगठन अमीर को तख्त से उतारने की कोशिश कर रहा था उसमें उन्होंने खुले आम हिस्सा लेना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अमीर उनसे नाराज़ हो गये और जब अंग्रेजों ने मुहम्मद मियां साहब को गिरफ्तार करने की इजाज़त अमीर से मांगी, तो अमीर ने उनके फ़ौरन इजाज़त दे दी। लेकिन अमीर हबीबुल्ला के छोटे भाई नसरुल्ला खां साहब भी, जो अफ़ग़ानिस्तान के सबसे बड़े वज़ीर थे और अमीर की अंग्रेज़ परस्ती से तंग आकर उनकी गद्दी से अलग कर देना चाहते थे, मौलाना मुहम्मद मियां साहब के हामी थे। इसका नतीजा यह हुआ कि इस हुक्म की ख़बर जैसे ही नसरुल्ला खां को मिली उन्होंने अपनी मोटर के ज़रिये मौलाना मुहम्मद मियां साहब को चुपचाप अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी पहाड़ों में पहुँचा दिया और अंग्रेज़ लाख सर पटकने पर भी मौलाना को गिरफ्तार न कर सके।

अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी पहाड़ों से २३ दिन तक पैदल चलकर मौलाना बुखारा की हद में पहुँचे और एक दिन सरहद्दी पहरदारों की आंखें बचाकर चुपचाप बुखारा में दाखिल हो गये। इसके कुछ ही दिन बाद जब अमीर हबीबुल्ला क़त्ल कर दिये गये और अमानुल्ला खां काबुल के तख्त पर बैठे, तब मौलाना मुहम्मद मियां साहब का काबुल की इस नई हुक्मत ने काबुल वापस बुला लिया। मौलाना खुशी-खुशी काबुल वापस आये और अफ़ग़ानिस्तान के राजकाज को चलाने में अमीर अमानुल्ला खां की मदद करने लगे। लेकिन अपने देश की आज़ादी को वह नहीं भूल सके। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दिनों में अमानुल्ला खां ने हिन्दुस्तान पर हमला कर दिया। यह हमला मौलाना मुहम्मद मियां साहब और मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी साहब की सलाह से किया गया था और सरहद्द का वह पूरा संगठन, जिसकी कमान हाजी तुरंगज़ई के हाथ में थी, इस वक्त भी अफ़ग़ानिस्तान की पूरी मदद कर रहा था, लेकिन हवाई जहाज़ वगैरह न होने

काबुलियत हो। इसलिये उसने मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब को अफ़्ग़ान पार्लियामेन्ट का प्रेसीडेंट बनाना चाहा, लेकिन मुहम्मद मियाँ साहब जानते थे कि बच्चासक्का की किसी भी तरह की मदद करना अंग्रेजों को मदद देना है। इसलिये उन्होंने प्रेसीडेंट बनना नामंजूर कर दिया। इसका नतीजा वही हुआ जो होना चाहिये था। यानी मौलाना गिरफ़्तार कर लिये गये और उनको फाँसी का हुक्म सुना दिया गया। एक बार फिर मौलाना के सर पर फाँसी का रस्सा झूलने लगा, लेकिन मौलाना ऐसी आसानी से फाँसी पर चढ़ जाने वाले जीव होते, तो अभी तक न जाने कितनी बार फाँसी पर चढ़ चुके होते। उन्होंने एक बार फिर जुगुत लगाई, पहरेदारों को मिलाया और एक रात को चुपचाप कैदख़ाने की दीवाल लांघकर सरहदी इलाक़े की तरफ़ चल दिये, क्योंकि इस इलाक़े में आपकी पुरानी जान-पहिचान थी। छिपते-छिपते आप 'बाजोड़' आ पहुँचे और वहाँ तब तक रहे, जब तक बच्चासक्का की हुक्मत बिल्कुल ही ख़त्म न हो गई। इसके बाद आप फिर काबुल लौट गये।

इस तरह हमारे देश के इस देशभक्त सपूत ने अपने देश की सियासत के साथ-साथ दूसरे मुल्कों की सियासत में भी पूरा हिस्सा लिया। न जाने कितने बड़े-बड़े इनक़लाब उन्होंने अपनी आंखों से देखे थे। सन् १९१५ में जब अरब में आजादी की लड़ाई चल रही थी, तब आप अरब में थे। इसके बाद जब अफ़्ग़ानिस्तान में अंग्रेजों के असर और उनके अधिकारों के खिलाफ़ इनक़लाब उठा, तो उसमें आपने ख़ास हिस्सा लिया और मुसीबतें झेलीं। फिर जब बुख़ारा में क्रान्ति की आग़ सुलगी, तो आप वहीं थे। रूस की मशहूर लाल क्रान्ति के वक़्त आप ताशकन्द, मास्को, बाकु, बातूम और तिफ़लिस में घूम रहे थे। सन् १९२१-२२ में जब तुर्की से खिलाफ़त हटी और तुर्की का नया क़ानून हुआ, तो आप वहाँ मौजूद थे।

इसी तरह न जाने कितने मुल्कों के क्रान्तिकारी नेताओं में से भी आपके ताल्लुकात थे। ट्रिपोलीटेनिया के मशहूर क्रान्तिकारी नेता शेख अहमद सन्नूमी, मिस् की आजादी की लड़ाई के हीरो अल्लामा अब्दुल अजीज चखेशी और कुर्दस्तान की आजादी के लिये अपना सब कुछ दांव पर लगा देने वाले शेख महमूद सईद कुर्दी आपके खास दोस्तों में से थे। इसी तरह हिन्दुस्तान के बीसियों जिलावतन देशभक्तों को आप से मदद मिलती रहती थी। मिसाल के लिये जब आप अंकोरा के दूतवास में थे, तब मौलाना अब्दुल हकान साहब अमृतसरी और मौलाना मौला बख्श साहब नगीनवी महीनों तक आपके मेहमान रहे। असल बात तो यह है कि कोई भी ऐसा शख्स, जो देशभक्त हो आपके लिये सगे भाई की तरह प्यारा हो जाता था।

सन् १९३७ में जब हिन्दुस्तान के सूबों में कांग्रेस सरकारें बनीं, तब आप से भी कहा गया कि आप ब्रिटिश हुकूमत से हिन्दुस्तान लौटने की इजाजत मांगें, लेकिन आपको यह गवारा नहीं था कि जिस हुकूमत से आप ज़िन्दगी भर लड़ते रहे, उसी के सामने अब कुछ रियायतों के लिये हाथ फैलायें। न आप उस हिन्दुस्तान में लौटने के लिये ही तय्यार थे, जिसकी सरकारी इमारतों पर अब भी यूनीयन जैक लहरा रहा था। आपका कहना था कि मैं तो उसी हिन्दुस्तान में लौटूंगा, जो पूरी तरह आजाद होगा।

लेकिन मौलाना को यह दिन देखना नसीब न हो सका और १३ जनवरी सन् १९४६ को अपने वतन की आजादी की माला जपते-जपते वह हमेशा के लिये इस दुनिया से चल दिये। *

कौन जानता है कि जब उनकी पलकें हमेशा के लिये मुँद रही होंगी, तब उनके दिल में क्या-क्या अरमान उठ रहे थे। शायद एक बार तो उनको अपने वतन की याद आई ही होगी। जिसके लिये उन्होंने

अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया था और जिससे वह पिछले तीस साल से जुदा रहे थे । पर इसके साथ ही उनके सामने हिन्दुस्तान में चल रहे हिन्दू-मुसलमानों के वहशियाना भगदड़ों की तस्वीर भी तो घूमी होगी और तब शायद उनको इससे तसल्ली ही मिली होगी कि आज वह हिन्दुस्तान में नहीं हैं और अपने इस आखिरी वक्त में, कम से कम उनके कानों में, किसी मुसलमान के हाथों मारे जाने वाले किसी हिन्दू या किसी हिन्दू के हाथों मारे जाने वाले मुसलमान की बेवा की चीख तो नहीं आ रही है ।

मौलाना का नाम हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई के इतिहास में हमेशा अमर रहेगा ।

ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान

(भाई अक्षय कुमार जैन)

[ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान यों तो अपनी नौकरी का फर्ज अदा करते हुए मारे गये थे, लेकिन फिरक्कापरस्ती के उस तूफान के ज़माने में यह कौन नहीं जानता कि फौज और पुलिस के दिमाग भी बड़े ज़हरीले हो चले थे। बल्कि कहा तो यह जाता है कि दोनों तरफ़ अगर पुलिस और फौज ईमानदारी से अपना फर्ज अदा करती रहती और मारकाट में खुद हिस्सा न लेती, तो जितनी खून खराबी भी हुई, उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं हुई होती। ऐसे ज़माने में भी ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान साहब किस तरह सफ़ाई के साथ अपना फर्ज अदा करते रहे और उसी में शहीद हो गये, इसका हाल पाठक इस लेख में पढ़ेंगे।

इस लेख के लेखक भाई अक्षय कुमार जैन जिस अस्त्रबार के आफ़िस में काम करते हैं, उसी में ब्रिगेडियर उस्मान के भाई मुहम्मद सुबहान साहब भी काम करते थे, लेहाज़ा ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान के बारे में लेखक ने जो बातें दी हैं वह गहरी छान बीन के बाद ही दी हैं। हिन्दुस्तान हमेशा इस शहीद पर नाज़ करता रहेगा।

—सम्पाकद]

भारत ने इस ज़माने में जो इने गिने बहादुर नौजवान पैदा किये हैं, उनमें ब्रिगेडियर उस्मान का स्थान बहुत ऊँचा है। नौशहरा के इस बहादुर विजयी का नाम आज़ाद हिन्दुस्तान की तवारीख के आकाश में हमेशा चन्द्रमा की तरह चमकता रहेगा।

मुहम्मद उस्मान का जन्म यू० पी० के आजमगढ़ ज़िले में बीबी-पुर गाँव में हुआ था। बनारस में हरिश्चन्द्र हाई स्कूल से उन्होंने इन्ट्रेन्स पास किया और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी से बी० ए० का इम्तहान दिया। अपनी पढ़ाई के ज़माने में ही उस्मान साहब को खेल कूद में भारी दिलचस्पी थी और वह यूनीवर्सिटी के स्पोर्ट चैम्पियन थे। उसी ज़माने से वह राजनीति में भी दिलचस्पी रखते थे। और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी यूनिन के वह बहुत दिनों तक सेक्रेटरी भी रहे थे।

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी से बी० ए० करने के बाद वह देहरादून के फ़ौजी कालेज में जाना चाहते थे, लेकिन उस कालेज में ज्यादातर ऐसे लोग ही लिये लाते थे, जो किसी राजा नवाब या बड़े फ़ौजी अफ़सर के खानदान के हों। पर उस्मान साहब से यह पाबन्दी हटा ली गई और उनको कालेज में दाख़िल कर लिया गया। इस कालेज के विद्यार्थियों के लिये यह ज़रूरी सा ही था कि वह अपने अँग्रेज़ अफ़सरों जैसी पोशाक में रहें, उनका जैसा ही खानपान (जिसमें शराब खासी मात्रा में होती थी), अपना भी रखें, लेकिन उस्मान साहब ने यह बातें नहीं अपनाईं। वह उस फ़ौजी कालेज में भी मामूली वक्त में खदर का कुर्ता, पाजामा पहिनते थे। मुसलमान होकर भी वह गोश्त नहीं खाते थे, क्योंकि गोश्त खाना शरीअत के लिहाज़ से हर एक मुसलमान के लिए ज़रूरी नहीं है। हाँ, अगर वह चाहे, तो खा सकता है। एक सच्चे मुसलमान और साथ ही नेक इन्सान होने की वजह से शराब तो उन्होंने कभी चखी तक नहीं। देहरादून के फ़ौजी कालेज में पढ़ने वाले किसी विद्यार्थी के लिये उस ज़माने में शराब से बचा रहना कितने ऊँचे कैरेक्टर की मिसाल

थी, इसे वही लोग समझ सकते हैं, जो उस कालेज की उस ज़माने की हालत से वाकिफ़ हैं। लेकिन उस्मान साहब की नेक चलनी की यहीं तक हद नहीं थी, वे तो सिगरेट भी नहीं पीते थे और नियम से खर्चा चलाते थे। अपने इन नियमों का पालन उन्होंने बाद की ज़िन्दगी में भी किया, यहाँ तक कि मोर्चे पर भी उनके ख़ेमे में गान्धीजी की तस्वीर और चरख देखने में आता था।

अगस्त १९३३ में उस्मान साहब को कमीशन मिला और सन् १९३३ में वह पहली बार लड़ाई के मैदान में पहुँचे। सन् १९४१ तक वह हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ़ हिस्सों में अपनी रेजिमेंट के साथ रहे, बाद को कुछ वक्त के लिये पेशावर में कप्तान भी रहे। क़ोटा के स्टाफ़ कालेज के इस्तहान देने के बाद आप इराक़ और बर्मा भेजे गये। बर्मा में कुछ दिनों तक उन्होंने एक रेजिमेंट की कमान भी की थी।

इसके बाद हवाई सेना में काम करने की गरज से वह पैराशूट से उतरने की ट्रेनिंग लेने के लिये इंग्लैंड गये और वहाँ उनको इस ट्रेनिंग में काफ़ी अच्छी कामयाबी हासिल हुई।

उस्मान में इन्सानियत का जड़बा

इस तरह ब्रि० उस्मान एक ऐसी ताज़गी और ताक़त का ख़जाना थे कि वह ब्रिलकुल मुख्तलिफ़ माहौल में भी अपने उसलों और आदर्शों पर कामयाबी के साथ चल लेते थे। यही वजह थी कि फ़ौजी ज़िन्दगी अपनेपाने के बाद भी उनका दिल एक शायर के दिल की तरह चमकीला और दया, ममता से हमेशा भरा पूरा रहा। उनके मिज़ाज के इस पहलू पर रोशनी डालने के लिये सिर्फ़ दो मिसालें काफ़ी होंगी, जिसमें से पहिली मद्रास सूबे के एक गाँव की है। एक दिन अपनी फ़ौजी बीप में उस्मान साहब एक गाँव से होकर गुजरे। यकायक उन्होंने देखा

कि एक औरत एक कूएँ की मेढ़ पर बैठी बिलख रही है। थोड़े से आदमियों की एक भीड़ भी वहीं जमा थी, जिनमें से सभी चेहरों पर बेवसी और दुख की झलक थी। जीप रोककर उस्मान साहब ने वजह पूछी, तो मालूम हुआ कि इस औरत का बच्चा कूएँ में गिर गया है। सुनते ही उस्मान साहब बिजली जैसी तेजी से एक रस्सी के सहारे कूएँ में उतर गये और उस औरत के बच्चे को निकालकर उसकी माँ के हवाले कर दिया। अपने बच्चे को फिर अपनी गोदी में पाकर माँ के चेहरे पर जो खुशी थी, उस्मान साहब के लिये उनकी मेहनत का वही सबसे बड़ा एवज था।

इसी तरह की दूसरी मिसाल रानीखेत छावनी की है। एक दिन शाम को उस्मान साहब खाने पर बैठे ही थे कि एक देहाती ने उनको रोते हुए बताया कि पास के गाँव में एक चीता कई आदमियों की जान ले चुका है। उस्मान साहब सब कुछ बर्दाश्त कर सकते थे पर इन्सान की आँखों में आँसू वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने खाना वैसे ही छोड़ दिया और जब तक चीते को न मार लाये दुबारा खाने पर न बैठे।

रानीखेत का वह गाँव आज भी उनको बड़ी इज्जत के साथ याद करता है।

फिरकापरस्ती के दुश्मन

भला मानव समाज का इतना बड़ा और सच्चा सेवक फिरकापरस्ती की गन्दगी में सन ही कैसे सकता था ! इसीलिये जब पञ्जाब में फिरकापरस्ती का शैतानी नाच शुरू हुआ और 'हिन्दू सभ्यता' और 'इस्लामी तमद्दुन' को तचाने से लिये धरम और दीन के दीवाने बच्चों और बूढ़ों का कत्ल व औरतों की बेइज्जती करने लगे और जब हिन्दू के दिल से मुसलमान का और मुसलमान के दिल से हिन्दू का यक़ीन बिलकुल ही उठ चुका था और सबसे बड़ी बात यह थी कि आम जनता में आमवौर

यह शिकायत थी कि फौज में भी फ़िरकापरस्ती बुरी तरह घर कर गई है, उस वक्त ब्रिगेडियर उस्मान की यह खुद एतमादी यानी आत्म-विश्वास तो देखिये कि उन्होंने फ़ौजी बँटवारे के वक्त अपने मुसलमान साथियों में इस बात का पूरी तरह प्रचार किया कि वह हिन्दुस्तान की फ़ौज में ही रहने का फैसला करें। अपने साथियों में भी उस्मान साहब का कितना असर था, वह इसीसे साबित है कि करीब ढाई सौ मुसलमान अफ़सरों ने, उस ज़माने में, जब कि हर एक खाता-पीता मुसलमान, सिवा कुछ नेशनलिस्टों के, पहिली गाड़ी से पाकिस्तान भाग जाने के फ़िराक़ में था, हिन्दुस्तान की फ़ौज में रहने के फ़ार्म भर दिये। और हिन्दुस्तान की सरकार ने भी उस्मान साहब की सच्चाई को कितनी आसानी से पहिचान लिया था, इसकी मिसाल यह है कि सन् १९४७ में पच्छिमी पञ्जाब में घिरे हुए हिन्दू और सिक्खों को निकालने का काम उसने ब्रिगेडियर उस्मान के ही सिपुर्द किया। अपने इस काम को उस्मान साहब ने कितनी खूबी के साथ पूरा किया, यह तो उस हल्के में हिन्दू सिक्खों से पूछिये, जिन हल्कों में उस्मान साहब रहे। खास तौर पर वह मुल्तान, मुज़फ़्फ़रगढ़, डेरागाजी ख़ाँ, और भंग में रहे और वे जब तक वहाँ रहे, तब तक वहाँ एक हिन्दू या सिक्ख का बाल भी बाँटा न हो सका। मुल्तान के पचास हजार हिन्दू सिक्खों की इस कट्टर मुसलमान ने जिस तरह हिफ़ाज़त की उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने हमेशा और कड़े से कड़े वक्तों में भी मुसलमानों के बजाय हिन्दू सिक्खों को बचाने में ज्यादा दिलचस्पी ली।

उनके इस काम को देख कर ही उनको गुरुदास पुर ज़िले के शरणार्थियों को निकालने का काम सौंपा गया था। और वहाँ अमन कायम करने में उन्होंने जो फ़ुर्तौ दिखाई, उसकी वजह से उनका नाम हिन्दुस्तान की फ़ौजी दुनिया में रोशन होगया।

इसके बाद उनको जम्मू मोर्चे का कमान्डर बना कर कश्मीर मेज़

गया। उस वक्त काश्मीर की हालत बेहद डांवा डोल थी। एक तरफ तो आजाद काश्मीर सरकार और पाकिस्तान सरकार इस बात का प्रचार कर रही थी कि हिन्दुस्तानी फौज काश्मीर में घुस आई तो काश्मीर के एक मुसलमान को भी ज़िन्दा नहीं छोड़ेगी और दूसरी तरफ काश्मीर के कुछ सर फिरे हिन्दू, जिनमें से कुछ तो पाकिस्तानी के साथ मिले हुए थे, जम्मू और उसके आस पास वहाँ की मुसलमान जनता के खिलाफ़ करवाई करके पाकिस्तान ने इस प्रचार को सच साबित कर रहे थे। इसके अलावा हिन्दुस्तान के हिन्दू फ़िरकापरस्त संगठन भी काश्मीर के हमले को 'एक हिन्दू रियासत पर एक मुस्लिम देश का हमला' की शकल देना चाहते थे, जिसका नतीजा यह था कि काश्मीर की ८० फ़ीसीदी से ज़्यादा जनता, जो मुसलमान है, पाकिस्तान और हमलावरों के साथ हमदर्दी रखने लगती। लेकिन ब्रिगोडियर उस्मान उस मोर्चे पर पहुँचते ही न तो पाकिस्तानी प्रचार चला और न हिन्दू फ़िरकापरस्तों का मतलब पूरा हो सका। अब यह लड़ाई काश्मीरी जनता की पाकिस्तानी फ़ासिस्ट शाही के खिलाफ़ अपनी आजादी की लड़ाई बन गई, जिसकी कमान एक नेकनाम बहादुर मुसलमान के हाथों में थी। ब्रिगोडियर उस्मान के पहुँचते पहुँचते जिस तरह नौशहरा पर कब्ज़ा कर लिया, उसकी कहानी हिन्दुस्तानी फौज के शानदार करनामों के इतिहास में हमेशा अमर रहेगी। हमलावर फ़चायली और पाकिस्तानी फौजों के दिल में तो उस्मान के नाम की इस तरह दहशत बैठ गई थी कि हर तीसरे दिन उस्मान साहब के मारे जाने का ऐलान आजाद काश्मीर रेडियो से दिया जाता था, जिससे कि हमलावरों में हिम्मत बनी रहे। ब्रिगोडियर उस्मान को ज़िन्दा या मरा हुआ पकड़ लाने के लिये ५० हजार रुपये के इनाम का ऐलान भी हमलावरों भी तरफ़ से किया गया था।

लेकिन हिन्दुस्तान की बदकिस्मती से ५ जुलाई १९४८ को आल-इंडिया रेडियोको यह ख़बर भी सुनानी पड़ी कि हिन्दुस्तान का यह बहा-

दुर सपूत, फ़िरकापस्ती का यह सबसे बड़ा दुश्मन और इन्सानियत का यह नेकनाम सेवक हिन्दुस्तानी फ़ौज की कमान करता हुआ काश्मीर के मोर्चे पर अपनी आखिरी नींद सो गया। ब्रिगेडियर उस्मान की यह मौत एक ऐसी मौत थी, जिसके लिये किसी भी बहादुर देशभक्त के दिल में डाह पैदा हो सकती है। उनके कफ़न दफ़न की रस्म भी हिन्दुस्तान की सरकार ने जिस शानोशौकत से पूरी की, वह इस बहादुर की एक सच्ची इज्जत थी। उस दिन सचमुच पूरा हिन्दुस्तान खून के आँसू रोया था और उसने यह महसूस किया था कि आज उसका एक बहादुर रक्षक मारा गया।

लेकिन कहते शर्म आती है कि हिन्दुस्तान के इने गिने कुछ लोगों, ऐसे लोगों ने, जिनके दिल फ़िरकापस्ती के ज़हर से भरे हुए हैं, उस्मान साहब की शाहादत से पैदा होने वाली अच्छी फ़िज़ा से दहशत खाकर इस बारे में एक गन्दा प्रचार करना शुरू किया था। वह प्रचार ऐसा बेहूदा था कि मुझे उसे लिखना भी गवारा नहीं है। खुशी की बात है कि हिन्दुस्तान की जनता चुपचाप होने वाले उस ज़हरीले प्रचार के बहकावे में नहीं आई।

ब्रिगेडियर उस्मान दुनियावी तरीक़े पर तो मर गये, लेकिन व ज़िन्द हैं और सदियों तक ज़िन्दा रहेंगे। अपने देश के लिये शहीद हो जाना उनकी सबसे बड़ी इ़ाहिश थी और वह इ़ाहिश पूरी हो गई। परमात्मा अपने प्यारों की इ़ाहिश का कितना इ़याल रखता है, उस्मान साहब की शाहादत से यह बात अच्छी तरह रोशन हो जाती है।
